100175
DONATION
चार सनातन
ब्रह्म
ईश्वर, जीव, प्रकृति, वेद

मुद्रक

वेद सप्ताह के उपलक्ष्य में
मान्यवर आचार्य प्रियव्रत जी
की सेवा में सादर भेंट
कल्याण चन्द्र
४-८-८२

ओ३म्

चार सनातन ब्रह्म

(ईश्वर, जीव, प्रकृति, वेद)

प्रकाशक

डॉ० वेद प्रकाश गुप्त

M. B. B. S.

मन्त्री, आर्य समाज रेलवे रोड, अम्बाला शहर

प्राप्ति स्थान

कल्याण स्वरूप गुप्त B. A.

१३२, आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर

जिला: सहारनपुर (उत्तर प्रदेश)

प्रथम संस्करण
१००० प्रतियां

जून १९८२

लागत मूल्य
३.५०

एक सम्मति

मान्य श्री कल्याणस्वरूप जी आर्य वानप्रस्थाश्रम द्वारा लिखित पुस्तक "चार सनातन ब्रह्म" का अवलोकन किया। पहले तो शीर्षक देखकर कुछ अटपटा सा लगा कि त्रैतवाद के मानने वालों ने चतुर्थवाद मानना कबसे प्रारम्भ कर दिया किन्तु कुछ अध्ययन के अनन्तर लगा कि ईश्वर, जीव एवं प्रकृति के साथ ही प्रभु का दिया वेदज्ञान भी वस्तुतः अपनी एक महत्ता रखता है, इनकी लेखनी में प्रवाह है तथा विषय को स्पष्ट करने की क्षमता भी, प्रश्नोत्तर द्वारा विषय को सरल तथा सुबोध बना दिया गया है। अपने विषय का प्रतिपादन करने में लेखक पूर्णतया सफल हुए हैं, लेखन की इतनी प्रतिभा इनके अन्दर छिपी हुई थी यह तो कम ही लोगों को ज्ञात होगा।

लेखक इसके लिये बधाई के पात्र हैं। पुस्तक पठनीय तथा मननीय है, आशा है लेखक आगे भी अपनी लेखनी को विराम नहीं देंगे।

डा० सत्यव्रत राजेश

-प्राध्यापक, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,

हरिद्वार।

विषयानुक्रमणिका

—०—

प्रकाशक की ओर से

इस पुस्तक के लेखक पं० कल्याण स्वरूप जी गुप्त बी.ए. घर गृहस्थी के कार्यों से निवृत्त होकर विगत १४ वर्षों से आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर में निवास करते हैं। आप स्वाध्यायशील एवं मननशील व्यक्ति हैं। डेढ़ साल हुआ आपने एक पुस्तक "धर्म एवं संस्कृति का स्वरूप" नामक छपवाई थी उसका सम्पूर्ण व्यय आपने स्वयं वहन किया था। यह पुस्तक "चार सनातन ब्रह्म" भी लिखी पड़ी थी परन्तु आर्थिक कठिनाईयों के कारण नहीं छप सकी थी। अब आर्य समाज रेलवे रोड़ अम्बाला शहर के मुख्य सहयोग से यह प्रकाशित हो रही है। आप के पास एक और पुस्तक कर्म एवं फल विषयक लिखी पड़ी है उसको छपवाने में जो महानुभाव आर्थिक सहयोग देना चाहें वे दानांश आर्यसमाज रेलवे रोड अम्बाला शहर में जमा करा सकते हैं।

इन पुस्तकों को छपवाने में आप किसी प्रकार के आर्थिक लाभ की इच्छा नहीं रखते, आपका उद्देश्य है आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार व प्रसार के माध्यम से महर्षि दयानन्द के ऋण से उऋण होना।

विनीत :

डॉ० वेदप्रकाश गुप्त एम.बी.बी.एस.

मन्त्री

आर्य समाज रेलवे रोड, अम्बाला शहर।

प्रस्तावना

आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर की स्थापना से भी पहिले स्वनामधन्य महात्मा नारायण स्वामी जी ने एक आश्रम नैनीताल के पास रामगढ़ की पहाड़ियों पर एकान्त वास के लिये स्थापित किया था। मैं भी सन् १९७२ की ग्रीष्म ऋतु में एकान्त सेवन के लिये एक मास के लिये वहां चला गया था। उस आश्रम से लगभग एक मील दूर एक मौनी बाबा एक कुटिया में रहते थे। उनका शरीर दुबला पतला, बाल खुले हों तो पैरों तक पहुचते थे। वे दिन रात मौन रहते थे। प्रातः ८ से ९ बजे तक केवल एक घण्टे के लिये मौन खोलते थे। उसी समय भक्त लोग दर्शन के लिये, बातचीत के लिये या कुछ भेंट देने के लिये उनके पास एकत्रित होजाया करते थे। प्रतिदिन आधा घण्टा प्रवचन तदनन्तर शंका समाधान आदि हुआ करता था। अपने जीवन के विशय में या आयु के विषय में वे किसी को कुछ नहीं बताते थे। भक्त लोगों की धारणा थी कि उनकी आयु २०० वर्ष से कम नहीं है। इन सत्संगों में मैं भी प्रायः चला जाया करता था।

उनके तीन सत्संगों का विवरण लिखकर मैंने डेढ़ वर्ष हुए छपवा दिया था पुस्तिका का नाम था "धर्म एवं संस्कृति का स्वरूप" इन तीन प्रवचनों को प्राथमिकता देने का कारण यह था कि धर्म एवं सस्कृति के वास्तविक स्वरूप को विद्वांन् लोग भी प्रायः नहीं जानते।

अतः साधारण जनता में धर्म के नाम पर मत सम्प्रदाय मजहब का प्रचार करते हैं और संस्कृति के नाम पर नृत्य गीत व अश्लील साहित्य को बढ़ावा देते हैं। इन दोनों महत्त्वपूर्ण अंगों की वास्तविकता को जन-साधारण में प्रसारित करने के लिये सबसे पहले वह पुस्तिका प्रकाशित की गई।

इस पुस्तिका में मौनी बाबा के सात प्रवचन हैं जो उन्होंने सोमवार से रविवार तक क्रमशः दिये। इनका उद्देश्य है – तीन अनादि सत्ताओं – ईश्वर जीव प्रकृति – तथा वेद का सही स्वरूप जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना। मौनी बाबा का विश्वास था कि इनका यथार्थ ज्ञान ही समस्त ज्ञान विज्ञान का मूल भूत ज्ञान है। इसके आधार पर ही सांसारिक अभ्युदय तथा परमलक्ष्य मोक्ष का महल खड़ा किया जा सकता है। यथार्थ ज्ञान के पश्चात् ही तदनुसार कर्म करने का प्रश्न उत्पन्न होता है।

निर्जला एकादशी से अगले दिन द्वादशी के प्रातःकाल का मेरा जन्म है। आज निर्जला एकादशी है, आज जीवन के ७७ वर्ष पूर्ण हुए। यदि जीवन रहा और प्रभु की इच्छा हुई तो मौनी बाबा के शेष प्रवचनों का संग्रह भी यथा समय जनता के सन्मुख उपस्थित किया जा सकेगा।

अन्त में मैं पं० विद्यानिधि जी सिद्धान्तालंकार के लिए हृदय से आभार प्रगट करता हूं जिन्होंने इस पुस्तिका को आद्योपान्त अक्षरशः पढ़ा और अपने अमूल्य सुझाव देने का

कष्ट किया । पण्डित जी गुरुकुल के पुराने स्नातकों में से हैं। विद्या के अगाध समुद्र होते हुए भी बिना किसी प्रकार के बाह्य दिखावे के और बिना यशोकामना के चुपचाप आश्रम-वासियों की सेवा में तत्पर रहते हैं।

जिन महानुभावों ने इस पुस्तिका को छपाने के लिये आर्थिक सहयोग दिया है उन सबका हार्दिक धन्यवाद। उनकी सूची अलग से दे दी गई है। उनमें आर्य समाज रेलवे रोड अम्बाला शहर का मैं विशेष आभारी हूं।

२ जून १९८२
निर्जला एकादशी

विद्वज्जनों का सेवक
कल्याण स्वरूप

—०—

दानियों की सूची

संख्या	नाम दानदाता		राशि
१.	आर्यसमाज रेलवे रोड अम्बाला शहर:—		
	मानपत्र के साथ	२००.००	
	पुस्तक प्रकाशन के लिए	२६०.००	
	यज्ञ संस्कार आदि की दक्षिणा	३००.००	
		------	७६०.००
२.	बहिन किरणदेवी जी आर्यवानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर		५००.००
३.	श्री सेवकराम जी कौशिक आर्यवानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर		५००.००
४.	बहिन कमलादेवी जी धर्मपत्नी श्री सेठ रामचन्द्र जी, अम्बाला शहर		२५१.००
५.	माता सुखदेवीजी, आर्यवानप्रस्थाश्रम ज्वा०		२५०.००
६.	सेठ दीपचन्द जी एवं विजयकुमार कीरतपुर		२५०.००
७.	बहिन सीतादेवी जी धर्मपत्नी श्री दीपचंद जी, अम्बाला शहर		२००.००
८.	श्रीमती बालारानी जी धर्मपत्नी सेठ धर्म प्रकाश जी, बुढ़ाना		२००.००
९.	बहिन सुमति देवी जी आर्यवानप्र० ज्वा०		१०१.००
१०.	महात्मा आर्यभिक्षु जी प्रधान आर्यवानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर		१००.००

११.	माता द्रौपदी देवी जी आर्य वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर	१००.००
१२.	श्री विजयकुमार जी एवं वीना मित्तल दिल्ली	१००.००
१३.	श्री हरबंसलाल जी चानना अम्बाला शहर	५१.००
१४.	श्रीमती ईश्वरदेवी जी धर्मपत्नी सेठ ओम्प्रकाश जी, यमुना नगर	५०.००
१२.	श्रीमती जनकदुलारी जी अम्बाला शहर	२१.००

कुल योग ३४३४.००

—०—

लेखक का परिचय

मेरा संक्षिप्त परिचय मेरी पुस्तिका "धर्म एवं संस्कृति का स्वरूप" में उपलब्ध है उसे न दोहराते हुए इतना कहना चाहूंगा कि आश्रम के प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य से उदासीन होने पर परम कारुणिक प्रभु ने मुझे स्वाध्याय प्रवचन यज्ञ एवं संस्कार आदि का महत्वपूर्ण अवसर प्रदान कर दिया। डा. वेदप्रकाशजी एम.बी.बी.एस. मन्त्री आर्य समाज रेलवे रोड अम्बाला शहर के अनुरोध पर फरवरी १९८२ में मैं तीन मास अम्बाला शहर रहा जहां मुझे मन पसन्द कार्य मिला, मान मिला और इस पुस्तिका की छपाई के लिये कुछ राशि भी प्राप्त हुई। वहां से विदा होते समय आर्यसमाज की ओर से जो मानपत्र भेंट किया गया उसकी प्रतिलिपि पाठकों की सूचनार्थ देरहा हूं।

ओ३म्

श्री कल्याण स्वरूप जी गुप्त बी. ए. आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर (हरिद्वार) के सम्मान में आयोजित समारोह दिनांक २ मई १९८२ को प्रस्तुत

मानपत्र

मान्यवर !

आज आपको अपने मध्य में पाकर तथा आपका अभिनन्दन करते हुए हम बहुत प्रसन्न हैं। आपका सम्पूर्ण जीवन सादगी

एवं तप त्याग की साधना में समर्पित रहा है। हमारी प्रार्थना पर आपने तीन मास का समय निकालकर हमें जो उत्तम विचार दिये हैं हमारे लिये सदा प्रेरणा स्रोत रहेंगे।

आपका जन्म १९०५ में कुरुक्षेत्र जिला के "ठोल" ग्राम के एक आर्य परिवार में हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुलों में हुई। १९२८ ई० में आपने डी.ए.बी.कालेज लाहौर से बी. ए.की परीक्षा पास की। महात्मा हंसराज जी तथा स्वामी श्रद्धानन्द जी के चरणों में रहकर आपको शिक्षा पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आपने ३२ वर्ष तक विभिन्न पदों पर सफलता पूर्वक सरकारी नौकरी की। सेवा निवृत्त होकर आपने अपनी सुयोग्या जीवन संगिनी के साथ वानप्रस्थ एवं समाज सेवा का व्रत लिया जिसे आज तक आप निभा रहे हैं।

हे महानुभाव !

आप सत्य निष्ठ, उदार चित्त एवं स्वाध्यायशील व्यक्ति हैं। इस आर्यसमाज के दैनिक, साप्ताहिक तथा सभी पारिवारिक सत्संगों में दिये गये आपके ओजस्वी विचार आपकी चिन्तन-शक्ति के परिचायक हैं। आप जहां अच्छे विचारक हैं वहां उत्तम लेखक भी हैं। आर्य समाज की पत्र पत्रिकाओं में आपके लेख प्रकाशित होते रहते हैं। "धर्म एवं संस्कृति का स्वरूप आपकी उत्तम कृति है। अन्य रचनाएं भी आप की प्रकाशनाधीन हैं।

आपका सादा जीवन, स्वाध्याय एवं आत्मचिन्तन की

प्रवृत्ति, हम सबके लिये प्रेरणादायक हैं। आपका सौम्य स्वभाव, आत्मिक उन्नति की ओर उन्मुखता, आर्य समाज के प्रचार प्रसार में क्रियाशीलता आपके जीवन के उत्तम गुण हैं।

लगभग ७७ वर्ष की आयु में भी आप समय की गति के साथ दौड़ रहे हैं, यह सौभाग्य की बात है। हम परमपिता परमात्मा से आपके स्वास्थ्य एवं 'सुदीर्घ जीवन की कामना करते हैं। इसी मंगल कामना के साथ हम आपका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। हमें आशा है कि आप हमारी त्रुटियों की ओर ध्यान नहीं देंगे और जब भी हम स्मरण करेंगे आप पुनः हमें दर्शनों से अनुगृहीत करेंगे।

हम हैं आपके
स्नेहसिक्त

हरबन्सलाल चानना
प्रधान
डा० वेदप्रकाश गुप्ता
मन्त्री

आर्यसमाज रेलवे रोड
अम्बाला शहर के अधिकारी
एवं समस्त सदस्यगण

आशीर्वाद

मैंने अपने मित्र श्री कल्याण स्वरूप जी की पुस्तिका "चार सनातन ब्रह्म" की पाण्डुलिपि को ध्यान से पढ़ा है। पुस्तक परिश्रम से लिखी गई है। लेखक ने त्रैतवाद की दार्शनिक मान्यता को प्रमाणों एवं युक्तियों से पुष्ट किया है और तीनों सनातन सत्ताओं – ईश्वर जीव एवं प्रकृति" के गुण कर्म स्वभाव की विशद विवेचना प्रस्तुत की है। वेद के प्रति जनता में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये वेद को ईश्वरीय ज्ञान या चौथा ब्रह्म कहकर मानव जीवन के चार आश्रमों के साथ चारों वेदों का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है। पुस्तक में वेदादि सच्छास्त्रों के कई प्रमाण उद्धृत किये हैं तथापि पुस्तक सरल भाषा में लिखी गई है। वैदिक धर्म की मान्यताओं को समझने में सर्वसाधारण के लिये यह पुस्तिका उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी आशा है। इसके लिये लेखक बधाई का पात्र है।

प्रियव्रत
भूतपूर्व उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

० ० ० ० ०

माननीय श्री कल्याणस्वरूप जी आर्यवानप्रस्थाश्रम के गण्यमान्य व्यक्तियों में से एक हैं। १९६८ में आप आश्रम में जब प्रथम बार पधारे तो आपको एवं पूज्या माता जी को यह आश्रम अपनी भावनाओं के अनुरूप ही प्रतीत हुआ। अतः

तब से ही आप इस आश्रम में निवास कर रहे हैं। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुलों में हुई। पूज्य गुरुवर्य आचार्य प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति आपके ही सहाध्यायी रहे हैं। पर किसी उद्देश्य विशेष से आप मध्य में गुरुकुल छोड़ गए। गुरुकुल से चले जाने के उपरान्त भी प्रारम्भिक लगभग १० वर्षों के गुरुकुल वास और आर्षग्रन्थों के स्वाध्याय के संस्कार आपमें बराबर बने रहे। तभी सर्विस और गृहस्थ के नानाविध उत्तर-दायित्वों को निभाते हुए भी आप निरन्तर सत्संगों में जाते रहे और स्वाध्याय भी खूब करते रहे। आप की इस प्रवृत्ति को देखकर सत्संग प्रेमी, स्वाध्यायप्रेमी महानुभाव आपके व्या-ख्यानों और लेखों से भी प्रायः लाभ उठाते रहे। बड़े सौभाग्य की बात तब हुई जब आप १९६८ में अपने सभी उत्तरदायित्वों से निवृत्त होकर आश्रम में पधारे। यहां आकर भी आप सत्संग और स्वाध्याय में बड़ी रुचि लेते रहे। आपके इस गुण को देखकर समय-समय पर आश्रम भी प्रवचनों के माध्यम से आप से लाभ उठाता रहा। इस के अतिरिक्त आप के भीतर प्रबन्ध आदि की योग्यता को अनुभव कर आश्रम ने आप को अच्छे-अच्छे पदों पर प्रतिष्ठित कर आप से लाभ उठाया। आप भी बड़ी निष्ठा से आश्रम के कार्य करते रहे। पर यह सब करते हुए भी आप अपने सत्संग और स्वाध्याय के प्रति पर्याप्त सजग रहे। आप अपने प्रवचनों के साथ२ किसी न किसी साहित्य के माध्यम से भी सेवा करते रहे। अब आप लगभग पूर्णतया अन्य कार्यों से निवृत्त

होकर जो साहित्य के माध्यम से भी मानव जाति की और अधिक सेवा कर रहे हैं इससे मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई।

चार सनातन ब्रह्म की पाण्डुलिपि के पर्याप्त अंशों को मैंने पढ़ा मुझे पुस्तक पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने इसे पढ़कर यह अनुभव किया है कि स्वाध्याय प्रेमी महानुभाव इस पुस्तक का स्वाध्याय करेंगे तो जहां उनके ज्ञान में वृद्धि होगी वहां उनको इसके स्वाध्याय से जीवन में कुछ आगे बढ़ने और ऊंचा उठने की प्रेरणा मिलेगी। मैं आपकी इस कृति पर आपको हार्दिक बधाई देता हूं और प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि वह ऐसी कृपा करें कि जहां आपका जीवन सबके लिये सदा प्रेरणा का स्रोत बना रहे वहां आप का रचित साहित्य भी दूसरों को सत्यपथ की ओर अग्रसर करता रहे।

शुभचिंतक

रामप्रसाद

आचार्य एवं उपकुलपति (प्रो० वाइस-चांसलर)
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

० ० ० ० ०

स्वाध्यायात्मा प्रमद इस अलौकिक सार गर्भित उक्ति को अपने जीवन में चरितार्थ करने वाले किस तरह क्रमशः एक-एक पांव प्रगति पथ पर रखते हुए निरन्तर साध्य की प्राप्ति में सफलता प्राप्त कर सकते हैं प्रस्तुत पुस्तिका के प्रस्तोता कल्याणस्वरूप जी के जीवन

से स्पष्ट है। गत वर्ष भी आपने एक पुस्तिका प्रकाशित की थी – तब और अब में प्रगति स्पष्ट है। आश्रमवासियों को प्राप्त सुविधाओं से पूरा लाभ उठाने का यत्न करना चाहिये और अपने अन्तःकरणों पर लिखे जारहे संस्काररूप प्रकाशनों पर स्थिर दृष्टि जमाये जीवन के परम ध्येय की प्राप्ति में अग्रसर होना चाहिये।

–देशबन्धु विद्यालंकार

० ० ० ०

श्री पं० कल्याणस्वरूप जी बी.ए. वानप्रस्थ आर्यवानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर (हरिद्वार) द्वारा लिखित चार सनातन ब्रह्म" नामक पुस्तक पढ़ी। पुस्तक सात प्रवचनों के रूप में लिखी गई है।

त्रैतवाद अर्थात जीव, ब्रह्म व प्रकृति की सनातन अखण्ड सत्ता का सुन्दर निर्वचन पुस्तक के आरम्भ में किया गया है और साथ ही स्तुति–प्रार्थना–उपासना एवं परमात्मा के साक्षात् दर्शन में साधनों पर प्रकाश डाला गया है। उपासना एवं वेदों की अपौरूषेयता का प्रतिपादन, उनके मूल सिद्धान्तों का विवेचन और वैदिक संस्कृति के उज्ज्वल स्वरूप का पुस्तक में सुन्दर रूप से दिग्दर्शन कराया गया है।

मैंने इस पुस्तक का आद्योपान्त पाण्डुलिपि के रूप में अवलोकन किया है। मेरा निष्कर्ष है पुस्तक बड़े परिश्रम तथा योग्यता के साथ सम्पादित की गई है। अतः लेखक का परिश्रम सराहनीयहै।

शिवदयालु

भूतपूर्व मंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश

अवतरणिका

सोमवार को प्रातःकाल मौनी बाबा ठीक समय पर अपने आसन पर विराजमान होगए । भक्तजन पहिले ही वहां पर उपस्थित थे । उन्होंने प्रवचन आरम्भ करते हुए कहा :—

उपस्थित भक्तजन !

आजकल ब्रह्म के विषय में कई गलत मान्यताएं एवं धारणायें जन साधारण में ही नहीं बड़े-बड़े विद्वानों में भी प्रचलित हैं । आइये इस शान्त वेला में विचारें कि ब्रह्म किसे कहते हैं । ब्रह्म शब्द का अर्थ है महान् । महान् कौन होता है । महान् वह होता है जिसमें अन्यों की अपेक्षा से कुछ विलक्षणता हो या यों कहिये कि उसके बिना कार्य न चल सके । इस असंख्य नीहारिकाओं वाली और अरबों सौर मण्डवों वाली विशाल सृष्टि में वे सब पदार्थ महान् हैं जिनके बिना इस सृष्टि को चलाया न जा सके ।

ब्रह्माण्ड का केन्द्र बिन्दु—जीवात्मा

इस विशाल ब्रह्माण्ड का केन्द्र बिन्दु है जीवात्मा । जीवात्मा एक नहीं असंख्य हैं। तत्त्व समास सूत्र १८ के अनुसार ८४लाख योनियां मानी जाती हैं जो निम्न हैं :—

१.	पशु	२० लाख योनियां
२.	पक्षी	१० ,, ,,
३.	कृमि कीट पतंग	११ ,, ,,
४.	जल चर या रींगने वाली	६ ,, ,,
५.	स्थावर	३० ,, ,,
६.	मनुष्य	४ ,, ,,
	कुल	८४ लाख योनियां

एक-एक योनि में कितने जीवात्मा हैं और कुल कितने जीवात्मा हैं इसका ज्ञान केवल सर्वज्ञ परमात्मा को ही है। हां यह कहा जा सकता है कि जीवात्माओं की संख्या निश्चित है न वह घट सकती है और न वह बढ़ सकती है। मानव की गणना में २० अंक से अधिक की संख्या नहीं है उसके बाद हम असंख्य कह देते हैं परन्तु सर्वज्ञ प्रभु अवश्यमेव जीवात्माओं की संख्या को निश्चित तौर पर जानता है।

इन असंख्य जीवात्माओं के कल्याण के लिये उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म करने की तथा कर्मानुसार भोग पाने की व्यवस्था के तौर पर इस सृष्टि की रचना हुई है। यदि ये असंख्य सनातन जीवात्मा न हों तो इस सृष्टि की रचना निरुद्देश्य हो जाये। वेद में कहा है कि—

तुभ्येमा भुवनाकवे महिम्ने सोमतस्थिरे
तुभ्यमर्षन्ति सिन्धवः ॥ ऋ. ९।६२।२७

भावार्थ--हे क्रान्तदर्शी, शान्ति के अभिलाषी सोम ! ये सब भुवन तेरे लिये स्थित हैं ये नदियां समुद्रपर्वत सब तेरे ही लिये हैं ।

अतः प्रथम ब्रह्म तो जीवात्मा है ।

द्वितीय एवं तृतीय ब्रह्म—

जीवात्मा के ज्ञान एव प्रयत्न दो स्वाभाविक गुण हैं अथर्व वेद में कहा है कि "देवस्य पश्य काव्यं न ममार नजीर्यति" (१०।८।३२)

जीवात्मा के कल्याण के लिये जगद् रचयिता ने दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य बनाये । दृश्य काव्य है यह जगत और श्रव्य काव्य है वेद । दृश्य काव्य जीवात्मा के लिये उपयोग एव उपभोग की सामग्री उपस्थित करता है और श्रव्य काव्य उस सामग्री को उपयोग करने की विधि बनाता है इन दोनों के बिना जीवात्मा अपने ज्ञान एव प्रयत्न का उपयोग नहीं कर सकेगा और सृष्टिक्रम नहीं चल सकेगा । अतः जगत का उपादान कारण प्रकृति या प्रकृति से बना ब्रह्माण्ड एवं ज्ञान का मूल स्रोत वेद ये दोनों भी ब्रह्म कहे जाते हैं । वेद के विषय में मनुजी ने कहा है कि 'वेदोऽखिलोधर्ममूलम्' अर्थात् यदि वेद न हो तो जीवात्मा कोई धर्म कर्म कर ही न सके । इसीलिए मनु जी ने वेद को भी ब्रह्म कहा है :—

अग्नि वायु रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्
दुदोह यज्ञ सिद्धयर्थं ऋग् यजुः साम लक्षणम्

ब्रह्माण्ड को भी ऋषि दयानन्द ने ब्रह्म कहा है "ब्रह्मण स्पति" का अर्थ करते हुए उन्होंने ब्रह्माण्ड का स्वामी अर्थ किया है।

चतुर्थ ब्रह्म—

असंख्य जीवात्माओं को नियन्त्रण में रखने के लिए अव्यक्त प्रकृति से भिन्न भिन्न पदार्थों की रचना करने के लिए तथा जीवात्माओं को आवश्यक ज्ञान देने के लिये एक सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ सर्वव्यापक सत्ता को भी मानना आवश्यक है उसके बिना भी सृष्टि की रचना, स्थिति, पालन अथवा संहार सम्भव नहीं। अतः इन चारों को सनातन ब्रह्म स्वीकार करना आवश्यक है इनकी सत्ता अलग-अलग है ईश्वरीय ज्ञान तो ईश्वर के साथ ही है परन्तु परमात्मा जीवात्मा एवं प्रकृति एक दूसरे से उत्पन्न नहीं हैं। ये सनातन हैं निराकार हैं सूक्ष्म हैं। इन तीनों की ब्रह्म संज्ञा श्वेताश्वर उपनिषद् में स्पष्ट लिखी है:—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं
ब्रह्ममेतत्। श्वेताश्वरोपनिषद् प्रथम अध्याय १२वां श्लोक

निर्माण के लिए चारों वस्तु आवश्यक—

इस विशाल ब्रह्माण्ड की रचना तो एक बहुत बड़ी वस्तु है। एक छोटे से पदार्थ के निर्माण में भी इन चारों तत्त्वों की आवश्यकता होगी। एक कारीगर एक नई मशीन (टेलिविजन) बनाता है इसमें विचारिये कितने तत्त्वों की आवश्यकता है।

सर्वप्रथम कारीगर जो उसे बनाता है

दूसरे वे पदार्थ जिनसे वह यन्त्र बनता है।

तीसरे वे ग्राहक जिनके लिये टेलिविजन बनाया गया।

चौथे एक पैम्फलेट जिसमें उसके उपयोग की विधि लिखी हो।

इनमें से यदि किसी एक को भी निकालदें तो टेलिविजन या बनेगा नहीं और यदि बन भी जायेतो बेकार एक लोहे के छोटे-छोटे टुकड़ों का ढेर हो रह जायेगा।

हमने देखा कि किसी भी छोटी से छोटी वस्तु को बनाने के लिये चारों पदार्थों की आवश्यकता है सृष्टि रचना तो एक महान् कार्य है क्या वह इन चारों के बिना सम्भव है।

भारत का दुर्भाग्य--

परन्तु इस पुण्यभूमि भारत का महान् दुर्भाग्य है कि महाभारत के महासंहारक युद्ध के पश्चात् ऐसा भी एक समय आया जब भारत में विद्या एवं शौर्य की कमी हो गई। जनता

मूर्ख, बलहीन, आलसी एव प्रमादी होगई। तब विदेशियों ने यहां आकर मनमानी करनी आरम्भ करदी। आस्ट्रेलिया से मौकापाकर अनार्य लोग भारत में आये और मद्रास प्रान्त में रहने लगे। इन्होंने अपने आप को द्रविड़ कहा और पढ़ लिख कर ब्राह्मणों को श्रेणी में आगये। इन्होंने यहां अपने देश तथा जाति के असभ्य और अनार्य विचारों को आर्यों में वेद, धर्म और यज्ञादि के नाम से प्रचलित किया। यही आचार विचार उड़ीसा बंगाल मध्यप्रदेश महाराष्ट्र आदि में धीरे २ प्रचलित हुए। ये लोग मद्य मांस का सेवन करते थे। यज्ञों में पशु वध प्रचलित करा दिया।

वैदिक सम्पत्ति के लेखक पं० रघुनन्दन शर्मा लिखते हैं कि मद्रास प्रान्त में एक गोष्ठी हुई जिसका उद्देश्य था आसुर धर्म का प्रचार करना। इसका मूल प्रचारक था वादरायण। महर्षि व्यास को भी वादरायण कहते हैं उन्होंने वेदान्तदर्शन की रचना की। परन्तु आसुरीधर्म का प्रचारक वादरायण महर्षि व्यास से बहुत काल पीछे हुआ। महर्षि व्यास को ५००० वर्ष से अधिक होगये हैं तब बुद्ध मत का जन्म भी नहीं हुआ था। उपलब्ध वेदान्तदर्शन में बौद्धों का खण्डन है। बुद्ध का जन्म महर्षि व्यास से १५०० वर्ष बाद हुआ। स्पष्ट है कि इस दर्शन में आसुरीधर्म के प्रचारक बादरायण ने मिलावट की।

इसी वादरायण आचार्य की वंश परम्परा में शुक, गौडपाद, गोविन्द, और आदि शंकराचार्य हुए। इन्हीं आचार्यों ने प्रस्थान-

मयी अर्थात् वेदान्तदर्शन, गीता और, उपनिषदों में अनार्ष विचारों को मिलाकर अपनी निजी मान्यताओं के आधार पर उन की व्याख्यायें लिखकर आसुरधर्म का प्रचार किया। आर्य सभ्यता को नाश करने वाली यही प्रस्थानत्रयी है इसी की आड़ में देश में अनेक सम्प्रदाय, अनेक अनाचार और अनेक भ्रम फैले हुए हैं।

स्वामी शंकराचार्य के पश्चात् श्री रामानुजाचार्य निम्बार्क स्वामी और वल्लभाचार्य आदि गुरु आयें इन्होंने भी वैदिक त्रैतवाद को छोड़ कर अद्वैतवाद, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि आदि कई नये वाद चला दिये। वल्लभाचार्य ने तो व्यभिचार का भी प्रचार कर दिया। इन द्रविड़ आचार्यों ने यहीं पर बस नहीं किया। इन्होंने वेदों पर भी कलम चलाई। सायणाचार्य उघट महीधर सभी दाक्षिणात्य द्रविड़ हैं जिन्होंने वेदों के अश्लील अर्थ किये जिससे वेदों के प्रति बचीखुची श्रद्धा भी नष्ट हो गई। इस प्रकार भारतीय अनपढ़ जनता के आलस्य एवं प्रमाद का लाभ उठाकर इन द्रविड़ आचार्यों ने वैदिक साहित्य में सर्वत्र मिलावट करके वेद और ईश्वर के प्रति उपेक्षा तथा आर्य संस्कृति का सत्यानाश कर दिया।

महात्मा बुद्ध ने पशुवध के विरुद्ध जनमत तैयार किया, किन्तु वेद और ईश्वर के प्रति उपेक्षा को बढ़ावा दिया।

उपर्युक्त द्रविड़ आचार्यों ने ईश्वर और वेद का गुणगान तो किया परन्तु इन के प्रति श्रद्धा और आस्था की जड़ें खोखली

करदीं । सम्भव है इसी बात को ध्यान में रखकर पद्मपुराण में किसी ने लिखा है कि :—

"मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव हि"

अर्थात् मायावाद का असत् शास्त्र भी छिपा हुआ बौद्धमत ही है।

महात्मा बुद्ध एवं शंकराचार्य का प्रभाव—

इन आचार्यों के प्रचार से जो भारतदेश की हानि हुई वह निम्न है :—

१— जीव ब्रह्म की एकता घोषित करने से मानव को अपने कुकृत्यों के लिए दण्ड मिलने का भय जाता रहा ।

२— कर्म बन्धन का कारण है अतः शुभ या अशुभ किसी प्रकार का कोई कार्य नहीं करना चाहिये इस प्रचार से जनता में अकर्मण्यता और आलस्य व्याप गया ।

३— ईश्वर के प्रति निष्ठा और वेद के प्रति श्रद्धा का लोप होने से अनार्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन बल पकड़ गया जिससे पढ़ने वालों का चरित्र तथा मनोबल गिर गया

४— मद्य मांस व्यभिचार को शास्त्र सम्मत घोषित कर देने से जनता का नैतिक पतन हो गया ।

५— उपनिषदों को श्रुति और गीता को स्मृति घोषित कर

देने से वेदों के प्रति तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के लिए अनास्था उत्पन्न हो गई ।

६– अपने को साक्षात् ब्रह्म कहने वाले सैकड़ों भगवानों के पैदा होने से नास्तिकता का बोलबालाहो गया । नास्तिकता से परस्पर द्वेष और पापमय जीवन सर्वत्र फैल गया ।

इसका परिणाम वही हुआ जो होना था । आस्ट्रेलिया से आये इन द्रविड़ों की बौद्धिक गुलामी में फंसकर ये सर्वश्रेष्ठ आर्य जाति अपना वर्चस्व खो बैठी और राजनैतिक गुलामी में ८०० वर्ष तक लुटती और पिटती रही ।

महर्षि दयानन्द का नुस्खा--

इस बौद्धिक गुलामी से बचाने के लिये युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने निम्न नुस्खे बताये :--

१– वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है इसका पढ़ना-पढ़ाना, सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।

यदि जनता वेदों को पढ़ने पढ़ाने में लग जाये तो धर्म और ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी और खान-पान आचार-व्यवहार में शुद्धि होगी और विद्वान् लोग जनता को भ्रम में न डाल सकेंगे ।

२– जो वेदानूकूल हैं वही मान्य हैं और जो प्रतिकूल हैं वह अमान्य हैं ।

यदि इसे स्वीकार करलें तो धर्म के नाम पर जितने दुष्कर्म हो रहे हैं मतमतान्तर खड़े हैं वे सब समाप्त हो जायें।

३– ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदों के अर्थ करने की आर्ष शैली का दिग्दर्शन कराया। यदि इसे स्वीकार करलें तो वेदों के सही अर्थ समझने में सुविधा होगी और ईश्वर एवं वेद के प्रति केवल श्रद्धा ही नहीं बढ़ेगी अपितु वेद में निहित विद्याओं के ज्ञान से अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि होगी।

४– आर्य ग्रन्थों के पठन-पाठन को विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

इसे कार्य रूप में परिणत करने से पढ़ने वालों के आचार विचार शुद्ध होंगे, परस्पर द्वेष की भावना समाप्त होगी और नैतिक पतन रुक सकेगा।

दुखद परिस्थिति—

सबसे अधिक दुःख की बात यह है कि तथाकथित भारतीय विद्वान् अभी तक यह भी अनुभव नहीं करते कि वे बौद्धिक गुलामी में फंसे हैं। जब तक इसे अनुभव नहीं करते तब तक वे इससे छुटकारे का यत्न भी नहीं कर सकते। जिस वेद सम्मत त्रैतवाद का महर्षि दयानन्द ने पुनरुद्धार किया उसे मानने को वे तैयार नहीं। जिस निराकार प्रभु की उपासना पर बल दिया

उसे भी अंगीकार न करके पाषाण पूजा में ही उलझे रहना श्रेयस्कर मानते हैं। जिस वेदार्थ शैली का दिग्दर्शन किया उसके खण्डन में 'वेदार्थ पारिजात' जैसे मोटे २ ग्रन्थ लिखकर अपने पाण्डित्य का प्रकाशन करने में गौरव अनुभव करते हैं। वेदों को प्रभु की वाणी स्वीकार करते हुए भी मन्त्रों के अश्लील अर्थों को महाविद्यालयों में पढ़ाने में झिझकते नहीं। महर्षि दयानन्द के वेद भाष्य को विश्व विद्यालयों में पढ़ाये जाने का तीव्र विरोध करते हैं। ये सब भारत का दुर्भाग्य है न जाने प्रभु कब हमें सुबुद्धि देंगे। ये कहकर मौनी बाबा चुप हो गये।

अब प्रश्नोत्तर आरम्भ हुए।

त्रैतवाद के लिए प्रमाण--

एक भक्त--भगवन् आपने कहा कि त्रैतवाद वेद सम्मत है क्या इसके लिये आप कोई प्रमाण दे सकते हैं?

बाबाजी--इसके लिये वेदों में एक नहीं अनेक प्रमाण हैं देखिए-

१. ओं द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समाने वृक्षे परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।

ऋ. १।१६४।२०

भावार्थ--अनादि काल से ब्रह्म और जीव दो पक्षी जो परस्पर मित्र हैं वे अनादि प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हैं। इनमें से एक अर्थात् जीव इस संसार में पापपुण्य रूप फलों को स्वाद से भोग करता है और दूसरा ब्रह्म फलों का भोग

न करता हुआ भीतर बाहिर सर्वत्र व्यापक होकर द्रष्टा मात्र है ।

२. याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्यः ।

यजु ४०।८

भावार्थः—उस सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने अपनी सनातन प्रजा अर्थात् जीवों के लिए सब प्रकार के पदार्थों की तथा वेद की रचना की ।

३. ओं त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते
सम्वत्सरे वपत एक एषाम्,
विश्वमेको अभिचष्टे शचिभिः
ध्राजि रेकस्य ददृशे न रूपम् ।।

ऋ. १।१६४।४४

भावार्थ—तीन पदार्थ नियमानुसार विविध कार्य करते हैं । इनमें से एक परमेश्वर सृष्टि व प्रलय के सन्धिकाल में बीज डालता है अर्थात् ईक्षण शक्ति से गतिशून्य प्रकृति में गति का सञ्चार करता है । दूसरा जीव अपने सामर्थ्य से संसार को सब ओर से देखता है और इसमें कर्म करता है । तीसरी प्रकृति जिस का वेग अर्थात् कार्य दिखाई देता है परन्तु रूप नहीं दिखाई देता । अर्थात् प्रकृति अव्यक्त है ।

४. ओं न तं विदाथ य इमा जजान
अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव । यजु. १७।३१

भावार्थ--हे जीवो जो परमात्मा इन सब भुवनों का बनाने वाला है उसको तुम लोग नहीं जानते हो वह जीव से भिन्न है और जीव के अन्दर व्यापक है इसमें एक जीव एक परमात्मा और तीसरे भुवन अर्थात् सृष्टि तीनों का वर्णन है।

५. प्रजापतिः प्रजया संरराणः

त्रीणि ज्योतीषि सचते स षोडशी

प. ८।३६

भावार्थ--वह प्रजापति प्रजा में रम रहा है उसीने तीन ज्योतियो-अग्नि विद्युत् एवं सूर्य को रचा। प्रजा प्रजापति और ज्योतियां तीन पदार्थ हैं। तीन अनादि सनातन सत्ताओं की पुष्टि में चार या पांच नहीं सैकड़ों वेद मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं।

दूसरा भक्त--आपने चार ब्रह्म बताये हैं परन्तु ब्राह्मणग्रन्थो एवंउपनिषदों के अनुसार तो ब्रह्म अनेक हैं। आदित्यो वै ब्रह्म, वायुर्व ब्रह्म, चन्द्रमा वै ब्रह्म शुक्रं हि ब्रह्म, आपो वै ब्रह्म इत्यादि।

उत्तर--इन शब्दों का अभिप्राय यह है कि ये सब महान् शक्तियां तथा उस ब्रह्म के ही रूप हैं इनमें वह जगन्नियन्ता ब्रह्म उपस्थित है उसी की उपस्थिति के कारण इनमें प्रकाश है उष्णता है या शीतलता है। परन्तु जो चार सनातन ब्रह्म बताये हैं उनके बिना सृष्टि रचना

नहीं हो सकती वे सब अलग २ अपनी सत्ता रखते हैं। सब मिलकर इस सृष्टि रचना में कारण हैं।

उपास्य ब्रह्म--

तीसरा भक्त--भगवन् छान्दोग्योपनिषद् के तीसरे प्रपाठक के १८ वें खण्ड में लिखा है कि--"मनोब्रह्मेत्युपासीत, आकाशोब्रह्मेत्युपासीत" यहां मन एवं आकाश को ब्रह्म मान कर उपासना करने का उल्लेख है। इसको कृपया स्पष्ट कीजिए।

उत्तर--ये उपास्य नहीं है उपासना के साधन हैं मन को बिना सधाये, बिना एकाग्र किये ब्रह्म की उपासना नहीं हो सकती। कहा है कि "मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धं मोक्षयोः" इसी प्रकार आकाशवत् उसकी सर्वव्यापकता पर दृढ़ विश्वास हुए बिना मानव कुवृतियों एवं कुकर्मों से बच नहीं सकता। इसीलिए यजुर्वेद के अन्तिम शब्द हैं "ओं खम्ब्रह्म"। इनका यह अर्थ नहीं कि मन या आकाश ब्रह्म हैं इनका उपासना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु सृष्टि के कारणों में इनकी गिनती नहीं। यह ठीक है कि साधक को तो इस सृष्टि की प्रत्येक छोटी से छोटी वस्तु में ब्रह्म ही दिखाई पड़ता है, परन्तु इससे उन वस्तुओं को ब्रह्म नहीं कहा जा सकता।

चौथा भक्त--भगवन् आपने कहा कि जीवात्माओं की संख्या

निश्चित है। परन्तु यदि वह प्रभु इस संख्या को घटा बढ़ा नहीं सकता तो सर्वशक्तिमान् कैसे ?

उत्तर--जीवों की संख्या निश्चित है चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने वाले जीवों की संख्या में एक भी नया जीव न बढ़ता है, न घटता है। प्रत्येक जीव का अपना पृथक् अस्तित्व एवं व्यक्तित्व है और पापपुण्य कर्मों का लेखा जोखा भी सबका अलग-अलग है। इन जीवों को परमेश्वर ने नहीं बनाया। प्रत्येक जीव उतना ही सनातन है जितना परमेश्वर स्वयं है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है फल भोगने में परतन्त्र है। कभी उसका नाश क्षय या ईश्वर में विलय ऐसा नहीं होगा जिससे उसकी स्वतन्त्र सत्ता नष्ट हो जाये। कर्मों के फलस्वरूप जीव केलिए जाति आयु एवं भोग का निश्चय परमेश्वर करता है परन्तु नया जीव उत्पन्न करना या किसी जीव की सत्ता को मिटा देना ईश्वर का सामर्थ्य नहीं। सर्वशक्तिमान् का केवल इतना ही अर्थ है कि सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति प्रलय एवं कर्मफल की व्यवस्था के लिये उसे किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा नहीं है। वह अपने कार्य को बिना किसी की सहायता के स्वयं करने का सामर्थ्य रखता है।

तीन सत्ताओं का परस्पर परिवर्तन-

प्रश्न--भगवन् क्या ये तीनों अनादि सत्तायें सदा साथ रहती

हुईं भी एक दूसरे में परिवर्तित नहीं हो सकती। मानव-देह में प्रकृति (शरीर) जीवात्मा एवं परमात्मा तीनों व्याप्य व्यापक भाव से रहते हैं क्या कभी जड़ प्रकृति से चेतन तत्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता ? और सच्चित् आत्मा क्या कभी सच्चिदानन्द (परमात्मा) नहीं बन सकता ?

उत्तर——यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है समय थोड़ा है परन्तु इस पर मैं कुछ प्रकाश अवश्य डालने का यत्न करूंगा।

(क) जड़ से चेतन को उत्पत्ति

भारत में एक चारवाक सम्प्रदाय है वह देह की उत्पत्ति के साथ जीवात्मा की उत्पत्ति और देह के नाश के साथ ही जीव का भी नाश मानता है। उनकी मान्यता है कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चार भूतों के परिणाम से यह शरीर बना है इसमें इनके योग से चैतन्य उत्पन्न होता है जैसे मादक द्रव्य खाने पीने से नशा उत्पन्न हो जाता है। इसका समाधान यह है कि पृथिव्यादि भूत जड़ हैं। उनसे चेतन की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे अब माता पिता के संयोगसे देह की उत्पत्ति होती है वैसे ही आदि सृष्टि में मनुष्यादि शरीरों की उत्पत्ति परमेश्वर के बिना कभी नहींहो सकती। मद के समान चेतन की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता क्योंकि मदचेतन को होता है जड़ को नहीं। पदार्थ नष्ट अर्थात् अदृश्य होते हैं परन्तु अभाव किसी का नहीं होता। परन्तु जड़ अदृष्ट होकर भी जड़ ही

रहेगा और चेतन अदृष्ट होकर भी चेतन ही रहेगा।

(ख) सच्चित् से सच्चिदानन्द

मुक्ति के समय सच्चित् जीवात्मा परमात्मा के आनन्दगुण को धारण कर लेता है और सच्चिदानन्द हो जाता है परन्तु परमात्मा नहीं बन जाता। जीव को आनन्दगुण परमात्मा के सान्निध्य से प्राप्त होता है परन्तु परमात्मा का आनन्दगुण स्वाभाविक है। नंमितिकगुण सदा रह नहीं सकता और स्वाभाविक गुण कभी जा नहीं सकता। इसी प्रकार मुक्ति में जीवात्मा अव्याहतगति से जहां चाहे भ्रमण कर सकता है किन्तु वह सर्वव्यापक कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीवात्मा मुक्ति में जो चाहे जान सकता है और जब चाहे जान सकता है परन्तु वह सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता। सर्वज्ञ में देश काल की कोई सीमा नहीं है।

चौथा ब्रह्म क्यों ?

प्रश्न--भगवन् आपने वेदमन्त्रों के उद्धरणों से जो निष्कर्ष निकाला और महर्षि दयानन्द ने जिस दार्शनिक सिद्धांत का पुनरुद्धार किया वह तो त्रंतवाद है अर्थात् तीन अनादि सत्ताओं को मान कर चलता है। आपने "चार ब्रह्म" कह कर तीन की जगह चार सत्ताओं का प्रतिपादन किया है इससे कुछ भ्रम हो गया है इसे निवारण करना चाहिये।

उत्तर--आपका कहना सत्य है। वेद प्रतिपादित दार्शनिक

सिद्धान्त त्रैतवाद ही है । परन्तु विचार कीजिए कि एक देश हो, उसमें प्रजा भी हो और राजा भी हो । क्या इतने भर से प्रजाजनों को सुख एवं शान्ति मिल सकेगी । नहीं, नहीं । उस देश का एक संविधान भी होना आवश्यक है । चाहे राजतन्त्र हो, चाहे प्रजातन्त्र, संविधान का होना आवश्यक है, जिस के अन्तर्गत राजा, राजकर्मचारी एवं प्रजाजन अपना २ कार्य कर सकें । यदि कोई संविधान न हो तो देश में जंगल का कानून प्रचलित हो जायेगा, बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर अपनी उदर पूर्ति करेगी । किसी की भी जान माल सुरक्षित न रहेगी ।

वेद सृष्टि रचयिता द्वारा निर्मित इस विशाल सृष्टि का संविधान है इसमें ऋत और सत्य की व्याख्या है जिन्हें सृष्टिकर्त्ता ने सृष्टि का आरम्भ करने से पूर्व ही निर्धारित कर दिया था । दैनिक सन्ध्या में हम कहते हैं कि "ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसो ऽध्यजायत ।"

आज संसार में इस ईश्वरीय संविधान की उपेक्षा की जा रही है, मानव समाज में जंगल का कानून प्रचलित है । छोटे-बड़े सभी देश एक दूसरे से भयभीत हैं । हिंसा चोरी व्यभिचार आदि पर कोई नियन्त्रण नहीं ।मानवता तो दूर गई अब तो मानव का अस्तित्व भी खतरे में है ।

इस दयनीय दशा से उभरने का एक ही उपाय है । प्रभु के सविधान के अनुसार मानव जीवन को चलाना । यह संवि-

धान भी सनातन है ईश्वर सनातन है तो उसका ज्ञान भी सनातन है परन्तु ज्ञान कोई अलग पदार्थ नहीं ईश्वर का एक गुण है।

वेदों के महत्व की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिये ही चार ब्रह्म ऐसा कहा गया है।

यह सृष्टि प्रवाह अनादि काल से चल रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। इसको समझने के लिये इसमें सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए और अपने परमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए तीनों सनातन सत्ताओं के गुण कर्म एवं स्वभाव को जानना परम आवश्यक है। इनका वर्णन क्रमशः आपके सन्मुख प्रस्तुत करने का यत्न करूंगा। ओं शम्।

तदनन्तर शान्तिपाठ के साथ सत्संग समाप्त हुआ और भक्तजन मौनीबाबा को प्रणाम करके उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा करते हुए अपने-अपने घरों को चले गये।
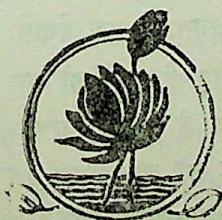
परब्रह्म परमात्मा

मंगलवार के प्रातःकाल के सुहावने समय, शान्त वातावरण में मौनी बाबा निश्चित समय पर अपने आसन पर आ विराजे और बैठते ही इस प्रकार प्रवचन आरम्भ कर दिया– उपस्थित भक्तजन !

आज मैं उस सर्वशक्तिमान प्रभु के विषय में कुछ विचार आपके सन्मुख प्रस्तुत करूंगा जिसके गुण सब वेद एवं शास्त्र गाते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिये लोगबाग कई प्रकार के कठिन व्रतों का अनुष्ठान करते हैं, तपस्याएं करते हैं, जन्मजन्मान्तर योग का अभ्यास करते हैं। उसका निजनाम ओ३म् है। सम्पूर्ण विश्व उस ओ३म् नाम वाले भगवान् का शरीर है अर्थात इस विश्व के छोटे से छोटे कण में वह विद्यमान है। उसी की इच्छा से आकार प्रकार तथा नामरूप मय, जगत् की रचना हुई। इस तरह भगवान् इस ब्रह्माण्ड का आत्मा है इसीलिये उसे परमात्मा कहते हैं। जगत् में हम देखते हैं कि जब जीवात्मा पिण्ड अर्थात शरीर छोड़ देता है तो यह शरीर केवल मिट्टी का पिंडमात्र रह जाता है। इसी प्रकार यदि परमात्मा इस ब्रह्माण्ड को छोड़ सके तो यह सारा विश्व सम्भवतः मिट्टी का पिण्ड भी न रह सके क्योंकि मिट्टी की सत्ता भी उसी की सत्ता के साथ है।

उसी के नियम में बंधा हुआ सूर्य उदय और अस्त होता है, उसी के नियम से वायु चलता है, अग्नि जलती है, बिजली चमकती है तथा मृत्यु भी उसी की आज्ञा से प्राणियों के प्राण हरण करता है। अग्नि में जलाने की शक्ति, वायु में उड़ाने की शक्ति, विद्युत् में असाधारण चमक उसी की दी हुई है। वाणी में बोलने की शक्ति, मन में विचार करने की शक्ति, आंख में देखने की शक्ति कानों में सुनने की शक्ति प्राणों में शरीर को धारण करने की शक्ति उसी जगन्नियन्ता की दी हुई है।

प्रभु का प्रत्यक्ष–

प्राय: लोग कहते हैं कि वह आंखों से दीखता नहीं। तनिक विचारिये, हमारी आंखें देखती हैं, उनमें देखने की शक्ति है, क्या यही सबूत उसकी सत्ता मानने के लिये बाधित नहीं करता? आंखों में देखने की शक्ति कहां से आई कानों में सुनने की शक्ति कहां से आई, वाणी में बोलने की शक्ति कहां से आई। सूर्य में चमक किसने दी, चांद में शीतलता किसने दी और माता के गर्भ में किसने बच्चे के छोटे २ हाथ पैर मुंह नाक कान आंख इत्यादि अंग बनाये। हम जो खाते हैं उसे त्वचा, चर्म, मांस, स्नायु अस्थि मज्जा, शुक्र आदि सात धातुओं में किसने परिवर्तित किया। एक छोटे से बीज में आम का सम्पूर्ण वृक्ष किसने रख दिया। गुलाब के फूल में सुन्दरता एवं सुगन्ध किसने भर दी, उसकी छोटी छोटी पंखुड़ियों में कोमलता एवं विविध

रंग किसने दिये । सृष्टि की प्रत्येक छोटी बड़ी वस्तु चर एवं अचर उसी की ओर संकेत कर रही है ।

(क) वेद ने कहा कि 'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्तिकेतवः' ये सब मीठी वाणी में प्रभु के अमृतपुत्रों को कह रही हैं कि उसे जानो जिसने यह ब्रह्माण्ड रचा है ।

(ख) मुण्डकोपनिषद् के रचयिता ने कहा कि --
तमेवैकं जानथ आत्मानं अन्या वाचो विमुञ्चथ,
अमृतस्यैष सेतु।।

अर्थात् अन्य सब कार्य गौण हैं उस परम पिता परमात्मा को जानना ही मुख्य कार्य है मानवदेह प्राप्त करके ।

(ग) केनोपनिषद् के रचयिता ने कहा कि :-
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्
महती विनष्टिः ।

अर्थात इसी जन्म में यदि ब्रह्म को जान लिया तो ठीक है, यदि इस जन्म में न जान सके तो महा हानि है जीवन निष्फल गया ।

(घ) सब प्राणी सुख की इच्छा करते हैं दुःखों का अन्त करना चाहते हैं परन्तु वे भूल, जाते हैं कि उस सृष्टि नियन्ता को जाने बिना दुःख का अन्त सम्भव नहीं । नीति कार ने कहा कि "यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यति मानवः तदा ब्रह्म-मविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति" अर्थात् जैसे मानव के लिए

आकाश को चमड़े की तरह अपने चारों ओर लपेटना संभव नहीं उसी प्रकार ब्रह्म को बिना जाने किसी के दुःख का अन्त भी सम्भव नहीं।

(ङ) वेद ने पुनः कहा कि "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" अर्थात् उसको जानकर ही जन्म-मरण के बन्धन से मानव छूट सकता है।

ज्ञान की प्रक्रिया—

उस ब्रह्म को जानने पर ऋषियों ने इतना बल दिया है आइये यह विचार करें कि किसी वस्तु को जानने का क्या अभिप्राय है, जानने की प्रक्रिया के कितने चरण (Steps) होते हैं।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार विद् धातु के चार अर्थ होते हैं। प्रायः ब्रह्म को जानने के लिये वैदिक वाङ्मय में इसी धातु का प्रयोग किया जाता है। इन चार अर्थों में ही जानने के चार चरण स्पष्ट हो जाते हैं

(क) विद्-सत्तायाम् दिवादिगण
सत्संग तथा वेदादि सच्छास्त्रों के अध्ययन से ब्रह्म की सत्ता में असंदिग्ध निश्चय करना।

(ख) विद्-ज्ञाने अदादिगण
परमेश्वर के गुण कर्म एव स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करना।

(ग) विद्-चेतना ख्यानंनिवासेषु चुरादिगण

परमेश्वर को जड़ चेतन प्रत्येक वस्तु में खोजना उस पर निरन्तर विचार करना ।

(घ) विद्लृ-लाभे तुदादिगण

प्रभु को प्राप्त करना, उसके दर्शन करना इन्हीं चारों चरणों को शास्त्रों में श्रवण मनन निदिध्यासन एवं साक्षात्कार की संज्ञा दी गई है । चारों चरण पूर्ण होने पर ही वस्तुतः ब्रह्मज्ञान प्रभु साक्षात्कार हो सकता है । ब्रह्म साक्षात्कार पर चर्चा करने से पूर्व ब्रह्म के दो रूप स्पष्ट तौर पर समझ लेने चाहियें :-

ब्रह्म के दो रूप-

(क) एक है शबल ब्रह्म-इसका सम्बन्ध सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति प्रलय तथा जीवों के लिये कर्म फल की व्यवस्था के साथ है जिसका वर्णन बड़े अच्छे शब्दों में आर्य समाज के दूसरे नियम में है । हमारी प्रायः सभी स्तुति एवं प्रार्थनाओं का केन्द्र यही शबलब्रह्म है । वेदादि शास्त्र इसी शबल ब्रह्म के गुणगान करते हैं ।

(ख) दूसरा है शुद्ध ब्रह्म, जिसका सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति प्रलय आदि से कोई सम्बन्ध नहीं । वह निर्लेप है आनन्दस्वरूप है । इस रूप का अनुभव केवल मुक्त आत्माएं करती हैं । कोई शरीरधारी ऋषिमुनि

उसका अनुभव नहीं कर सकता । माण्डूक्योपनिषद् के रचयिता ने निम्न प्रकार संकेत दिया है :—

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमे-
कात्मप्रत्ययसारं, प्रपञ्चोपशमम् शान्तं शिवमद्वैतं स
आत्मा स विज्ञेयः ।

इस प्रकार 'नेति नेति'' कहकर ही सन्तोष करना पड़ता है ।

यजुर्वेद के ३१वें अध्याय के तीसरे मन्त्र में कहा कि

एतावानस्य महिमीतो ज्यायांश्चपूरुषः
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।

अर्थः—यह विशाल ब्रह्माण्ड उसकी महिमा का सूचक है परन्तु वह इस ब्रह्माण्ड से बहुत बड़ा है । ये सब विशाल ब्रह्माण्ड उसके एक चरण में समाया हुआ है उसके तीन चरण तो अमृत लोक में हैं ।

अब मैं आपके सन्मुख प्रभु साक्षात्कार के छः सोपानों (सीढियों) का संक्षेप से दिग्दर्शन प्रस्तुत करता हूं ।

प्रभु साक्षात्कार के छः सोपान

प्रथम सोपान (सीढी)—ईश्वर के प्रति कृतज्ञता का भाव— जिस मानव के मन में ईश्वर के प्रति कृतज्ञता का भाव नहीं पैदा हुआ वह उसके दर्शन की कामना ही क्यों करेगा । यह कामना पैदा होती है सत्संग व सत्

शास्त्रों के अध्ययन से । भक्त तुलसीदास जी ने कहा है—

सुत दारा अरुवलक्ष्मी पापी के भी होय।
सत्संगति, हरिकृपा, तुलसी दुर्लभ दोय।।

वह परमात्मा हमारे सब दुर्गुणों व दुर्व्यसनों को जानता है फिर भी रोटी, कपड़ा व सांसारिक सब प्रकार के भोग प्रदान करता है। हमारे अन्तःकरण में बैठा हुआ प्रति क्षण शुभ कर्म करने की प्रेरणा करता रहता है और जब अशुभ कर्मों का विचार आता है तो भय, शंका तथा लज्जा को उत्पन्न कर देता है जिससे हम उधर प्रवृत्त न हों। हम उसकी आज्ञाओं का निरन्तर उल्लंघन करते हैं फिर भी वह हम पर दयादृष्टि रखता है। उसने हमारे उपभोग के लिये तरह २ के पदार्थों की रचना की है; सूर्य चन्द्र हवा पानी अन्न वनस्पति इत्यादि। क्या हम इनकी कीमत दे सकते हैं ? इस प्रकार विचार करके मनुष्य को अपने अन्दर कृतज्ञता के भावों का उदय करना चाहिये। उस पूर्ण प्रभु की पूर्ण सृष्टि में त्रुटियां निकालना या अन्य मनुष्यों के मुकाबले में कुछ कम मिलने से उसे गालियां देना; यह प्रवृत्ति बिल्कुल छोड़नी चाहिये। एक व्यक्ति हमें पानी का गिलास भी पिलादें तो हम उसका धन्यवाद करते हैं। परन्तु उस प्रभु का जिसने हमें सब कुछ दिया, हम धन्यवाद भी न करें; यह कृतघ्नता है महापाप है। सत्संग व सत् शास्त्रों के अध्ययन से इस कृतज्ञता की भावना को अपने अन्दर उद्‌बुद्ध करना चाहिये।

द्वितीय सोपान—ईश्वर के गुणों व कार्यों का निरन्तर स्मरण।

"ओ३म्" शब्द में प्रभु के अनन्त गुण कर्म छिपे हुए हैं "अव्" धातु जिससे व्याकरण की रीति से ओ३म् शब्द सिद्ध होता है उस के महर्षि पाणिनि ने १९ अर्थ दिये हैं और अ ३ म् तीन अक्षरों के भी अनेक अर्थ हैं जो फिर किसी समय बताए जायेंगे। इस समय इतना ही समझ लेना है कि "ओ३म्" के अर्थों को ध्यान में रखते हुए जप करने से ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव सदा हमारे मन के समक्ष उपस्थित रहेंगे। इसलिए "ओ३म्" का विधिवत् जप करते रहना चाहिये और प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक घटना में, प्रत्येक परिस्थिति में, उसी का हाथ दिखाई पड़ना चाहिये क्योंकि प्रकृति के सब तत्त्व उसके इशारे पर चलते हैं :—

(क) ऋग्वेद में कहा है "मम देवासो अनुकेतमायन्" अर्थात् सब देवता मेरे इशारे पर चलते हैं।

(ख) कठउपनिषद् में कहा है :—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्चवायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

अर्थ—अग्नि, सूर्य, विद्युत् वायु तथा मृत्यु ये पांचों वस्तुयें प्रभु की आज्ञा में चलते हं।

(ग) किसी कवि ने कहा है कि:—

तेरी ज्योति से जगमगाती है दुनियां ।
तेरी गति से गति पाती है दुनियां ।।

(घ) संस्कृत के एक कवि ने कहा है :—

केचिद्वदन्ति धनहीन जनो जघन्य:
केचिद्वदन्ति गुणहीनजनो जघन्यः ।
व्यासो वदत्यखिल शास्त्रगिरां प्रणेता
नारायण स्मरण हीनजनो जघन्यः ।

( ) एक दूसरे कवि ने कहा है कि —

विपन्नं नारायण विस्मरणम्
संपन्नं नारायण स्मरणम् ।।

प्रभु का स्मरण ही संपन्नता है और विस्मरण ही विपत्ति है ।

ईश्वर के गुणों का स्मरण करने से मनुष्य में निर्भयता, निश्चिन्तता, आत्मविश्वास तथा प्रभु में भक्ति पैदा होती है इतना ही नहीं जिस प्रजा के दिलों पर प्रभु का नाम होगा वह स्वयं अनुशासन में रहेगी । धर्मप्रचार राजा का आवश्यक कर्तव्य है । किसी कानून, पुलिस व फौज के सहारे राजा प्रजा के हृदय से अपराध करने की वृत्ति को नहीं निकाल सकता । जिस प्रजा में प्रभुस्मरण की आदत नहीं, वह प्रजा निरंकुश व अपराध करने वाली होती है । प्रभुस्मरण ही प्रजा को अनुशासन में रख सकता है ।

तृतीय सोपान–आत्म निरीक्षण

जब कृतज्ञता से प्रेरित होकर मानव ईश्वर के गुणों का स्मरण करने लगेगा तो वह अवश्यमेव अपनी न्यूनताओं को अनुभव करने लगेगा इसी का नाम आत्म निरीक्षण है। मनु जी ने कहा है कि :—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः,
किन्नुमे पशुभिस्तुल्यं किन्नुसत्पुरुषैरिव ।।

जब आत्म निरीक्षण करेगा तो वह कह उठेगा ।।

विश्वानिदेव सवितुर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ।

हे सवितः देव ! जगत् को उत्पन्न करने वाले भगवन् ! मेरे सब दुर्गुण दुर्व्यसन व न्यूनताओं को दूर कीजिये और जो मेरे लिये श्रेयस्कर है, वह मुझे प्राप्त कराइये । जब तक कि दुरित दूर न होंगे तब तक भद्र हमारे अन्दर स्थान नहीं पा सकते ।

जो व्यक्ति आत्मनिरीक्षण नहीं करते वे अपनी न्यूनताओं को जानते नहीं। इसलिये उनको दूर करने का यत्न भी नहीं कर सकते । यह भी हो सकता है कि किसी दुर्गुण या दुर्व्यसन को हम शुभ ही समझते हों, उस हालत में मनुष्य नीचे-नीचे ही गिरता चला जायेगा और अगले जन्म में किसी पशु पक्षी की योनि में जाने के लिये बाधित होगा ।

दुर्योधन ने कहा था- –

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः,
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
देवेनकेनापि हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोस्मितथाकरोमि ।।

यह हृदय में बैठा हुआ देव कौन है – हमारे जन्म-जन्मान्तर के बुरे संस्कार, उनसे उत्पन्न पशुवृत्तियां, ये ही हमें भद्र की ओर जाने नहीं देतीं ।

चतुर्थ सोपान : व्रत ग्रहण--

आत्म निरीक्षण से अपनी न्यूनताओं का बोध होजाने के बाद मनुष्य को व्रत धारण अर्थात् दृढ़ सकल्प करना चाहिये उन से छुटकारा पाने के लिये । व्रत शब्द वृञ् वरणे धातु से निष्पन्न होता है निघण्टु के अनुसार व्रत का अर्थ वह कर्म है जो मानव अपने लिये स्वयं करता है जब तक मनुष्य व्रत धारण नहीं करेगा, वह बुराइयां को कैसे छोड़ पायेगा ।

जो व्यक्ति कोई व्रत नहीं ले सकता वह कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता । अव्रती को शास्त्रों में शूद्र कहा गया है – ब्राह्मण देश से अविद्या, अज्ञान को दूर करने का व्रत लेता है क्षत्रिय देश से अन्याय को दूर करने का व्रत लेता है तथा वैश्य देश से पदार्थों के अभाव को दूर करने का व्रतलेता है । इन व्रती पुरुषों के हाथों में ही देश के बच्चों की शिक्षा दीक्षा, देश का शासन तथा देश की अर्थव्यवस्था का कार्य भार सौंपा

जाता है क्योंकि ये व्यक्ति इन कार्यों के लिये दीक्षित होते हैं अपनी जानकी बाजी लगाकर भी सदा देश का हितचिंतन करते हैं। जो इस प्रकार देश सेवा का कोई व्रत न ले सके वह शूद्र कहलाता है; उसको कोई उत्तरदायित्व पूर्ण स्थान देश की सामाजिक व्यवस्था में नहीं दिया जा सकता।

पांच महाव्रत--अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह तो मानवमात्र को पालन करने ही होते हैं। इन व्रतों में देश, काल जाति का कोई भेद नहीं। इन व्रतों के पालन से अपनी आत्मिक शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि मनुष्य लोकोपकार या आत्मिक सुधार के मार्ग पर चल निकलता है।

पांचवां सोपान – द्वन्द्व सहन--

जब मनुष्य व्रत धारण कर लेता है तो उस व्रत को पालने के लिये सब प्रकार का कष्ट सहन करना आवश्यक हो जाता है। शरीर के लिये शीतोष्ण को सहन करना, मन के लिये सुख, दुःख, सफलता, असफलता को सहन करना आवश्यक हो जाता है। यह तभी हो सकेगा जब यह विश्वास दृढ़ हो जाये कि वह जो करता है अच्छा ही करता है

तुम्हारी चाही में प्रभु, है मेरा कल्याण।
मेरी चाही मत करो मैं मूरख नादान॥

इस प्रकार की विचारधारा को मन में दृढ़ता से बिठाना होगा। व्रत ग्रहण व द्वन्द्व सहन ये दोनों तप के रूप हैं। अन्दर की बुराइयों को दूर करने के लिए तथा अच्छे गुणों को धारण करने के लिये तप परम आवश्यक है।

भगवान कृष्ण ने गीता में शारीरिक तप को पांच भागों में विभक्त किया है :—

देवद्विजगुरुप्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते । गी. अ. १७।१४

(१) अपने से बड़ों का सत्कार, व्यवहार में नम्रतापूर्वक बड़ों की सेवा अर्थात् उनकीसुख-सुविधा का ध्यान रखना ।

(२) शौचम् शरीर, मन बुद्धि आदि उपकरणों को शुद्धि मनु भगवान के आदेशानुसार

अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति, मन, सत्येनशुद्धचति,
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिज्ञानेन शुद्धयति ।

अर्थ—पानी से शरीर शुद्ध होता है, सत्य पालन से मन, विद्या व तप से आत्मा तथा विवेक से बुद्धि शुद्ध होती है ।

(३) आर्जवम्—सरलता, मन वाणी कर्म में एक रूपता ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम् ।।

(४) ब्रह्मचर्य—इन्द्रिय निग्रह, उपस्थेन्द्रिय का वश में करना

(५) अहिंसा—मन, वाणी कर्म से वैर त्याग ।
इन साधनों को अपनाने से द्वन्द्वसहन की क्षमता प्राप्त हो जाती है ।

छठा सोपान : आत्म समर्पण ।

१. मनुष्य जब पहिली पांच सीढियों पर चढ़ लेता है तो वह प्रभु के समक्ष आत्मसमर्पण करने के लिये तैयार हो जाता है; उसमें भक्तिभाव का उदय हो जाता है और वह कह उठता है कि---

(१) नहीं और कुछ मुझे चाहिये चरणों में तेरे झुका रहूं
बस एक यही मेरी कामना चरणों में तेरे झुका रहूं

(२) विनति यही पल पल छिन छिन
रहे ध्यान तुम्हारे चरणों में ।

(३) सौंप दिया इस जीवन का सब भार तुम्हारे हाथों में
अब जीत तुम्हारे हाथों में है हार तुम्हारे हाथों में

२. भगवान् कृष्ण ने आत्म समर्पण को निम्न प्रकार बताया है ।

यत्करोषि चदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत्,
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।

अर्थ–हे अर्जुन ! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता पीता है, जो यज्ञ करता है, जो दान करता है, जो कुछ भी कष्ट सहन करता है उन्हें स्वार्थबुद्धि छोड़कर ईश्वर अर्पण बुद्धि से कर ।

३. महर्षि दयानन्द ने ईश्वर प्रणिधान का अर्थ किया है कि "परमगुरवे परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्य समर्पणम् ईश्वर प्रणिधानम् ।"

इस अर्थ के अन्दर विशेष विचारणीय बात यह है कि प्रभु के रचे हुए द्रव्य-फल फूल या खाने पीने की वस्तुए उसको अर्पण करने में कोई विशेष महत्व नहीं है। आत्म समर्पण का अर्थ है आत्मा को प्रभु की भेंट करना। यही एक द्रव्य है जिसे आप अपना कह सकते हैं। इसी को प्रभु के अर्पण करने से आनन्द व शान्ति प्राप्त हो सकती है।

४. दैनिक हवन के समय निम्न मन्त्र से छः वार आहुतियां दी जाती हैं :--

"अयन्तइध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्धवर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा"।

भावार्थ--इस मन्त्र में भी अपनी आत्मा को उस जातवेदस् महान् अग्नि का इन्धन बनाने के लिये आदेश है। इस आत्म समर्पण का लाभ बताया है कि प्रजा पशु ब्रह्मवर्चस व अन्नादि की प्राप्ति। आत्मा को इन्धन बनाने का अर्थ है कि अपनी कामनाओं व इच्छाओं को बिल्कुल समाप्त कर देना। केवल सर्वशक्तिमान् प्रभु की इच्छा व आज्ञा की पूर्त्ति में ही अपने तन, मन, धन ही नहीं अपने आपको भी स्वाहा करना हैं। इस विषय में निम्न कथा अच्छा प्रकाश डालती है :--

महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा राजा जनक को पल भर में प्रभु दर्शन कराना:—

एक समय की घटना है कि महाराजा जनक ने अपने गुरुमहर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा कि भगवन् ! आप प्रभु मिलन के लिये बड़े कठिन व लम्बे मार्ग का उपदेश करते हैं । क्या कोई ऐसा सरल व छोटा मार्ग नहीं है जिससे एक क्षण में अर्थात् जितने समय में मैं रकाब में पैर रख कर घोड़े की पीठ पर चढ़ूं उतने समय में मुझे प्रभु के दर्शन हो जायें । महर्षि पहिले तो कुछ असमञ्जस में पड़े परन्तु शीघ्र ही कुछ विचार कर उन्होंने कहा कि हां है । राजा ने कहा कि यदि ऐसा है तो आज ही मुझे प्रभु का साक्षात्कार करा दीजिए; शुभ कार्य में क्यों देर करनी ।

महर्षि ने कहा कि घोड़ा तैयार कराकर मंगा लीजिए । घोड़ा सुन्दर काठी से सुसज्जित मंगा लिया गया और उसके पास खड़े हो कर राजा व महर्षि के मध्य निम्न प्रकार वार्तालाप हुआ—

राजा जनक—गुरु जी ! अब दर्शन करा दीजिए ।

महर्षि याज्ञवल्क्य—आज मैं इतना महान अभूतपूर्व कार्य करने के लिये उद्यत हुआ हूं । मैं अपनी गुरु दक्षिणा यह कार्य करने से पहिले ही लेना चाहता हूं ।

राजा जनक—भगवन् ! बताइये क्या दक्षिणा देदूं ।

महर्षि याज्ञवल्क्य–जो आप उचित समझें ।

राजा जनक–(अपने मन्त्री से) महर्षि के लिए १००० सुवर्ण मुद्रा ला दीजिए ।

महर्षि–महाराज ! क्या यह सुवर्ण आपका है ? कुछ वर्ष पहिले यह आपके पिता जी का था और अब भी कुछ वर्ष बाद यह सुवर्ण आपके पुत्र का हो जायेगा । आप तो केवल इसके पहरेदार हैं, स्वामी नहीं । पहरेदार को धन खर्च करने का अधिकार नहीं होता ।

राजा–(अपने मन्त्री से) अच्छामहर्षि को १०० ग्राम दक्षिणा में दे दो ।

महर्षि–महाराज ! क्या यह भूमि आपकी है ? यह भी कुछ समय पहिले आपके पिता जी की थी और अब आपके पुत्र की हो जायेगी । आपके पास कुछ समय के लिये अमानत के तौर पर है । आपको कोई अधिकार नहीं कि आप यह अमानत किसी गैर व्यक्ति को दे सकें ।

राजा–गुरु जी ! फिर मैं क्या दूं ?

महर्षि–महाराज जो वस्तु आपकी है, जिसके आप स्वामी हैं, वह मुझे दीजिए ।

राजा–(कुछ सोचकर) अच्छा मैं अपना शरीर आपको देता हूं ।

महर्षि–इस पर भी आपका स्वामित्व नहीं । जिस प्रभु ने दिया

है, वह जब चाहे वापिस ले सकता है। यदि आपने मुझे दे दिया तो फिर मालिक को क्या दोगे ?

राजा–(सोच में पड़कर कुछ देर पश्चात्) गुरुजी ! आप ही बतायें कि मैं आपको क्या दूं।

महर्षि–राजन् ! आपका अन्तःकरण जो मृत्यु के पश्चात् भी आपके साथ जाता है वह मुझे दीजिए।

राजा–अच्छा मैं अपना अन्तःकरण-मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार आपके अर्पण करता हूं।

महर्षि–अच्छा अब रखो रकाब पर पैर।

राजा––(रकाब में पैर रखकर) गुरु जी ! अब अन्तःकरण आपको देकर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में रह गया; सब प्रकार कीकामनायें समाप्त हो गईं। सिवाय परमात्मा के अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता।

जिस समय मनुष्य को जीवात्मा व प्रकृति का भेद अर्थात चित्त और पुरुष इन दोनों की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है, उसे ही योगदर्शन में विवेक ख्याति" कहा गया है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने यह ज्ञान राजा जनक को करा दिया। इसी विवेक ज्ञान को "हानोपाय" अर्थात् मोक्ष का साधन कहा गया है।

"विवेक ख्याति रविप्लवा हानोपायः" योगदर्शन..

छः सोपान व क्रिया योगः–

ये छः सोपान महर्षि पतञ्जलि ने एक सूत्र में कह दिये हैं :--

"तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः" (योग . २ . १

(१) तप के दो अर्थ--व्रतग्रहण व द्वन्द्व सहन ।

(२) स्वाध्याय के तीन अर्थ--

१. सत् शास्त्रों के अध्ययन तथा सत्संग द्वारा प्रभु के गुण कर्म, स्वभाव को जानना ।

२. "प्रणवादि पवित्राणां जपः" अर्थात् ओं आदि पवित्र शब्दों का अर्थ भावना के साथ जप ।

३. आत्म निरीक्षण ।

(३) ईश्वर प्रणिधान--ईश्वर अर्पण बुद्धि से सब कार्य करना ।

इन्हीं छः सोपानों का वर्णन मैंने आपके समुख प्रस्तुत किया है ।

संक्षेप में यों कह सकते हैं कि स्थूल शरीर के संस्कार के लिये तप, सूक्ष्म शरीरके संस्कार के लिये स्वाध्याय और कारण शरीर के संस्कार के लिये ईश्वर प्रणिधान का प्रयोजन है । तीन त्री सू क्रिया योग के छःअर्थों में पूर्व वर्णित छः सोपानों का ही

उल्लेख है इस से शरीर मन व आत्मा में बल व शक्ति आजाती है जिससे मानव को प्रभुदर्शन की योग्यता प्राप्त होजाती है ।

यह कह कर मौनी बाबा चुप होगये । तब एक भक्त ने प्रश्न किया ।

प्रश्न—आपने प्रभु साक्षात्कार अर्थात् मोक्ष प्राप्ति की लम्बी प्रक्रिया योगदर्शन के आधार पर बताई परन्तु हम देखते हैं कि मोक्ष प्राप्ति की इच्छा ही बहुत कम व्यक्तियों में पाई जाती है ।

उत्तर—यह ठीक है । लोगबाग प्रायः प्रकृति की चमक दमक में ही फंसे रहने में आनन्द मानते हैं । स्वामी शंकराचार्य ने कहा है कि :—

मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं, महापुरुष संश्रयः ।
दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रह हेतुकम् ।

अर्थात् प्रथम तो मानव चोला ही मिलना कठिन फिर मानवता की प्राप्ति कठिन, फिर मोक्ष की अभिलाषा कठिन यदि से सब भी हो जायें तो किसी महापुरुष योगी अर्थात् गुरु का आश्रय मिलना कठिन । ये सब चीजें दुर्लभ हैं, किसी बिरले व्यक्ति को प्रभु के अनुग्रह से ही प्राप्त होती है ।

प्रश्न—भगवन ! फिर हम साधारण व्यक्ति क्या करें ?

उत्तर—प्रभु के निजनाम "ओ३म्" का अर्थ सहित निरन्तर जप । इससे प्रभु के गुण कर्म एवं स्वभाव का ज्ञान होगा । उसकी ओर आकर्षण पैदा होगा ।

प्रश्न--भगवन् ! ओ३म् के अर्थों को तो हम अनपढ़ व्यक्ति भली भांति नहीं समझ सकेंगे । कृपया उसके गुण कर्म स्वभाव का थोड़ा सा दिग्दर्शन हमें करा दीजिए जिससे हम उन का मनन करके प्रभु के लिये प्रीति अपने हृदय में उत्पन्न कर सकें ।

उत्तर--ठीक है, यह विषय कुछ लम्बा हो जायेगा आज का प्रवचन पहिले ही कुछ लम्बा हो गया है अतः इस विषय पर कल चर्चा होगी ।

तदनन्तर शांतिपाठ के साथ सत्संग समाप्त हुआ और भक्तगण मौनी बाबा की वक्तृत्वकला-कठिन विषय को सरल भाषा में प्रस्तुत करने की क्षमता की प्रशंसा करते हुए अपने २ घरों को चले गए ।

ईश्वर के गुण कर्म एवं स्वभाव

बुधवार के रमणीक प्रभात में मौनीबाबा ठीक समय पर अपने आसन पर विराजमान हो गये। भक्तजन पहिले से ही वहां पर उपस्थित थे। उन्होंने प्रवचन आरम्भ किया :–
उपस्थित भक्तजन !

कल एक भक्त ने ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव बताने के लिये कहा था। यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। जिसका हमें परिचय नहीं जिसके गुणों को या कार्यों को हम जानते ही नहीं, उसे मिलने की इच्छा ही पैदा नहीं हो सकती।

इस युग के महान आचार्य ऋषि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के दूसरे नियम में बहुत संक्षेप से ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव का उल्लेख कर दिया है –

गुण– निराकार सर्वशक्तिमान् अजन्मा अनन्त निर्विकार अनादि अनुपम सर्वाधार सर्वेश्वर सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी अजर अमर अभय एवं नित्य पवित्र।

कर्म–– दयालु न्यायकारी और सृष्टिकर्त्ता।

स्वभाव– सच्चिदानन्द स्वरूप।

ईश्वर के गुण

ईश्वर के गुणों को स्पष्ट करने के लिये यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का आठवां मन्त्र बहुत उपयोगी है इसमें निम्न गुणों

का वर्णन है ।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्
कविमनीषी परिभूः स्वयम्भूः ।।

(१) पर्यगात्–वह सर्वव्यापक है ।

संसार में जितना अनर्थ उन धमाचार्यों ने किया जिन्होंने सर्वव्यापक भगवान् को एक देशीय बना दिया, उतना मनुष्य समाज का अकल्याण नास्तिक अथवा अत्याचारी लोगों ने नहीं किया । इन्होंने उस के रहने के लिये ठिकाने नियत कर दिये । किसी ने क्षीर सागर, किसी ने कैलाश, किसी ने चौथा आसमान किसी ने सातवां आसमान । अणु अणु में व्यापक सत्ता के साथ क्या मजाक किया हैं ।

(२) शुक्रम्:–सब चराचर जगत् का उत्पादक ।

शुक्र कहते हैं वीर्य को, बीज को, सृष्टि क्रमानुसार बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज बनता है परन्तु सृष्टि के आदि में जब न बीज था और न वृक्ष, उस समय उस प्रभु ने जीवात्माओं के निवास के लिये चौरासी लाख सांचों को बीजरूप में उत्पन्न किया । उन सांचों से मनुष्य पशु पक्षी कीट पतंग जलचर एवं स्थावर योनियां उत्पन्न हुईं ।

(३) अकायम् अव्रणम् अस्नाविरम्

वह शरीर धारण नहीं करता, वह अखण्ड एकरस अच्छेद्य अभेद्य और अचल है नस नाड़ी के बन्धन से रहित है अतिसूक्ष्म होने से उसको कोई आवरण नहीं हो सकता भोले लोगों ने

उसकी मूर्तियां बनादी ब्रह्मा विष्णु, महेश, दुर्गा, चन्डी हनुमान आदि न जाने कितने देवी देवताओं की मूर्तियां खड़ी करलीं। यहीं पर बस नहीं किया प्रभु को स्वयं मानव देह धारण करने के लिये विवश किया। पौराणिकों ने राम, कृष्ण बुद्ध इत्यादि चौबीस अवतारों की और जैनियों ने २४ तीर्थ करो की कल्पना करली। भला सोचिये जो जगदुत्पादक एवं संहारक भगवान् इतने विशाल ब्रह्माण्ड की रचना कर सकता है उसे रावण या कंस जैसे तुच्छ व्यक्तियों को मारने के लिये मानव देह में आना पड़ेगा। मानव देह धारण कराकर ही बस नहीं किया इन स्वार्थी लोगों ने उस शुद्ध निर्लेप ब्रह्म को नरसिंह मत्स्य कछुआ तथा सूअर का शरीर धारण करने के लिये विवश किया।

(४) शुद्धम् अपाप विद्धम्--

वह शुद्ध है निर्लेप है वह स्वयं रचे पदार्थों का उपभोग नहीं करता उसमें काम, क्रोध, लोभ मोह या रागद्वेष किसी प्रकार का पाप नहीं। उसमें अधर्म , अन्याय या अत्याचार का लेशमात्र नहीं।

(५) कविः-- त्रैकालज्ञ सर्वज्ञ महाविद्वान्

उसने अल्पज्ञ जीवात्मा ओं में अपना ज्ञान वितरित करने के लिये सृष्टि के आदि में वेदों की रचना की। वेद एक प्रकार से इस सृष्टि का संविधान है जिसमें वर्णित ऋत एवं सत्य जानना मानव के लिये आवश्यक है उसके बिना मानव अपनी जीवन यात्रा को सकुशल पूर्ण नहीं कर सकता। जो भी शारी-

रिक या मानसिक पाप हम करते हें उससे छिप नहीं सकता। सर्वत्र उपस्थित होने तथा सर्वज्ञ होने के कारण वह उनको भली प्रकार जानता है।

(६) मनीषी–सबके मन का साक्षी।

मानव का मन बहुत चंचल है इसमें अनेक विचार उठते हैं प्रति क्षण यह कुछ न कुछ संकल्प विकल्प करता रहता है। वह प्रभु इन सब मानसिक विचारों को प्रत्यक्षदर्शी के तौर पर जानता है।

(७) परिभूः–सर्वोपरि विराजमान एवं सर्वत्रपरिपूर्ण।

वेद ने कहा कि "तदन्तरस्यसर्वस्य तदु सर्वस्य.स्यबाह्यत" पुनः कहा कि "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि" यह सारा चराचर जगत् तो उसका केवल एकपाद है इसके बाहिर तीन पाद, और हैं वह इसमें तो व्यापक है ही इसके बाहिर भी उसकी सत्ता है।

(८) स्वयम्भूः–जिसका उत्पादक माता पिता कोई नहीं।

वह अनादि काल से है और अनन्तकाल तक रहेगा। वह अजर अमर एवं सनातन है उसका कभी नाश नहीं होता उसका जन्म भी कभी नहीं हुआ।

ईश्वर के कर्म

ईश्वर का एक महान् संकल्प है, अनन्त जीवात्माओं का कल्याण करना। इस संकल्प को कार्यान्वित करने के लिये

वह सनातन काल से निरन्तर सृष्टि प्रलयरूपी यज्ञ कर रहा है किसी क्षण भी वह सोता नहीं आराम नहीं करता। यह उसका स्वभाव है इसीलिये उसे कल्याणस्वरूप और यज्ञस्वरूप कहते हैं।

इस संकल्प की पूर्ति के लिये उसने तीन व्रत ले रखे हैं। जिस प्रकार एक मनुष्य जो डाक्टर बनने का संकल्प करता है वह व्रत लेता है कि उसने १६ वर्ष निरन्तर ब्रह्म चर्यपूर्वक रहकर गुरुजी के समीप बैठकर अध्ययन करना है, तब वह डाक्टर बन सकता है इसी प्रकार ईश्वर के भी कुछ व्रत हैं जो वेद में निम्न प्रकार वर्णन किये हैं :—

ओं अस्तम्नाद् द्यामसुरो विश्ववेदा:
अमिमीत वरिमाणं पृथिव्या:।
आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड्
विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ॥
ऋग् ८।४२।१

अर्थ—वरुण अर्थात् सर्वश्रेष्ठ प्रभु के तीन व्रत हैं वह प्राणों को देने वाला तथा विश्व में सर्वत्र विद्यमान् है और सब कुछ जानता है। प्रथम व्रत है कि उसने द्युलोक को धारण किया हुआ है। सूर्य चन्द्रमादि ज्योतिर्मय पदार्थों को वह नियम में चला रहा है इसी भाव को उपनिषद् ने स्पष्ट करते हुए लिखा कि —

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य:।
भयादिन्द्रश्चवायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चम:॥

इस विस्तृत पृथिवी से साढ़े तेरह लाख गुणा बड़े आग के गोले को उसके अतिरिक्त कौन नियम में बांधकर चला सकता है।

दूसरा व्रत है कि पृथिवी के कण कण को उसने नापा हुआ है उसे पता है कि कहां इसमे सोने का कान है कहां लोहे की खान है कहां तांबे की खान है कहां तेल व गैस की खान है। समुद्र में कहां कहां हीरे मोती और अन्य कीमती वस्तुएं उपलब्ध हैं। पुनः पृथिवी को इस योग्य बनाया कि ओषधियां अन्नादि एवं वनस्पतियां–फलों के वृक्षादि उससे उत्पन्न किये जा सकें। लाखों योनियों में उत्पन्न जीवात्माओं को भोजन आवास एवं प्रगति की सुविधायें उसके अतिरिक्त कौन प्रदान कर सकता है।

तीसरा व्रत है कि वह स्वयं इन लोक लोकान्तरों का सम्राट् है वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापक होने के कारण केवल विविध उपयोगी पदार्थों को उत्पन्न ही नहीं करता, बल्कि जीवात्माओं की आवश्यकता एवं योग्यता के अनुसार उनको बटवारा भी करता है जो मानव उस के दिये पदार्थ विद्या, बल, धन यश आदि का सदुपयोग करता है उसे वह और देता है, जो इनका दुरुपयोग करता है उसे वह छीन भी लेता है यही कर्मफल है। उसने वेद के माध्यम से घोषणा की कि —

अहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥

अर्थात् मैं स्वयं योग्यता के अनुसार भोज्य पदार्थों का बटवारा करता हूं।

इन्हीं व्रतों का उल्लेख निम्न मन्त्र मं है :--

ओं हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत् स दाधार पृथिवींद्यामुतेमांकस्मैदेवाय हविषाविधेमः।।

अर्थः--वह हिरण्यगर्भ है, सब संसार के पदार्थ उसी के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं वह जगज्जननी हैं और माता के नाते केवल उत्पन्न ही नहीं करती बल्कि लालन पोषण भी करती है। उसीने द्युलोक एवं पृथिवी को धारण किया हुआ है और वही इसका पति अर्थात् स्वामी है। अपने रचे पदार्थों का जीवात्माओं के उपयोग के लिये वही बटवारा करता है इन तीनों व्रतों के अतिरिक्त एक और व्रत का वर्णन पूर्व लिखित यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के आठवें मन्त्र में है।

याथा तथ्यतोऽर्थात् व्यदधात् शाश्वतीभ्रः समाभ्यः ।।

अर्थात् यदि प्रभु इस सृष्टि के भिन्न पदार्थों को रचकर और जीवात्माओं को शरीर प्रदान कर यों ही छोड़ देता तो अल्पज्ञ जीवात्मा सदा सदा के लिये ठोकरें ही खाता रहता है उसने सत्य विद्या जो चार वेद उनका सब मनुष्यों के परम हितार्थ उपदेश किया। यह उसकी महती कृपा का द्योतक है। मनुष्य योनि ही कर्मयोनि है अन्य योनियां केवल भोग योनियां हैं अतः परम पवित्र वेदज्ञान केवल मानव के लिये है।

ईश्वर का स्वभाव--

ईश्वर के स्वभाव को संक्षेप में "सत्यं शिवं सुन्दरम्" कहकर उपनिषत्कारों ने वर्णन किया है। आइये इन शब्दों पर

विचार करें।

सत्यम--सत्य शब्द ज्ञान, नियम, न्यायादि का द्योतक है वह ज्ञान स्वरूप है नियम स्वरूप है न्याय स्वरूप है। उसका ज्ञान पूर्ण है और पूर्ण ही रहता है उसमें लेशमात्र भी अज्ञान कभी किसी समय भी उपस्थित नहीं हो सकता है इसीलिये उसे ज्ञानस्वरूप कहा जाता है। उसके बनाये ऋत सत्यादि नियम अटल हैं उनमें किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन कभी नहीं हो सकता इसीलिये उन नियमों को ही विद्वज्जन परमेश्वर कह देते हैं। न्याय करना उसका स्वभाव है वह जीवात्माओं के कर्मों का यथावत फल देता है न तिलमात्र भी न्यून और न तिलमात्र भी अधिक।

शिवम्---कल्याण स्वरूप, यज्ञ स्वरूप।

सृष्टि रचना में प्रभु का महन् संकल्प-जीवात्माओं का कल्याण-कार्य करना है। जीवात्माओंका कल्याण करना उसका स्वभाव है वह जीवात्माओं को दुःख देने के लिये कोई कार्य नहीं करता। दण्ड का विधान केवल सज्जनों की सुरक्षा तथा दुर्जनों के सुधार के लिये है। इस सृष्टि रचना में उसका तिल मात्र भी स्वार्थ नहीं है अतः यह सृष्टि भी उसका महान् यज्ञ है और इसी के माध्यम से वह जीवात्माओं को भी यह उपदेश देता है कि वे भी यज्ञमय जीवन बिताएं स्वार्थमय नहीं।

सुन्दरम्---शान्तिस्वरूप आनन्दस्वरूप जोतिस्वरूप वह प्रभु इतनी बड़ी सृष्टि का नियन्त्रण कर रहा है परन्तु उसे

किसी प्रकार की घबराहट या मानसिक उद्विग्नता नहीं। वह सहज-स्वभाव से शान्त और प्रसन्न रहता है सुन्दरता में आकर्षण होता है। उसकी एक विशेष ज्योति है जो जीवात्मा को अपनी ओर आकर्षित करती है इसीलिये अनेक मानव उसी की तलाश में एक नहीं कई कई जीवन व्यतीत कर देते हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के छठे अध्याय के १९वें श्लोक में प्रभु के स्वरूप को निम्न प्रकार बताया है।

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं, निरवद्यं निरञ्जनं,
अमृतस्य परंसेतु, दग्धेन्धनमिवानिलम् ।।

अर्थ—वह निरवयव है, निश्चल है, शान्त है, निर्दोष है और निर्लेप है, निर्धूम अग्निवत् प्रकाशमान है और अमृत का धाम है।

प्रभु के गुण कर्म स्वभाव अत्यन्त संक्षेप से मैंने आपके सन्मुख रखे इनको न जान कर स्वार्थी धर्माचार्यों ने यह घोषणा करदी कि वे मानव को अशुभकर्मों के फल से बचा सकते हैं। मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि वह दुष्कर्म तो करता है परन्तु उसका कड़वा फल जो मिले उस से बचना चाहता है। यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा कि इस संसार में सबसे आश्चर्य की क्या बात है तो युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि—

फलं पापस्य ने च्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः फलं
चेच्छन्तिपुण्यस्य पुण्यं कुर्वन्ति नैवहि किमाश्चर्यमतः परम् ।।

अर्थात्—मानव पाप करते हैं और पाप का फल भोगना

नहीं चाहते। पुण्य करते नहीं और पुण्य के फल की इच्छा करते हैं इससे बढ़कर इस संसार में क्या आश्चर्य होगा। मानव मन की इस कमजोरी का लाभ उठाकर स्वार्थी धर्माचार्यों ने कहा कि मन्दिर में जाओ मस्जिद में जाओ, गिरजाघर में जाओ गंगा में डुबकी लगाओ. बद्रीनाथ केदारनाथ की यात्रा करो सब पाप कट जायेंगे। यह भी प्रचार किया कि ईसामसीह पर ईमान लाओ मुहम्मद साहिब पर ईमान लाओ तो ये उस परमेश्वर से सिफारिश कर देंगे और सब पाप क्षमा हो जायंगे। पाप क्षमा करना ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव के विरुद्ध है इसीलिए सिद्धान्त है कि--

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

यह कहकर मौनीबाबा चुप हो गये और तदनन्तर निम्न प्रश्नोत्तर हुए :--

क्या पाप किसी प्रकार भी क्षमा नहीं हो सकते:--

प्रश्न--भगवन् ! क्या भगवान् की स्तुति प्रार्थना व उपासना से भी मनुष्य के पाप नहीं कटते। उनके फल को भोगना ही पड़ता है ?

उत्तर:--मनुष्य अच्छा या बुरा जो कर्म करता है उसका संस्कार उसके अन्तःकरण पर अवश्य पड़ता है। बारम्बार पाप करने से पाप के संस्कार दृढ़ हो जाते हैं। निर्मल शान्त

शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव प्रभु के चिन्तन से ये संस्कार दबने लगते हैं। शास्त्रों में जहां पाप निवृत्ति लिखी है उसका अर्थ "पाप फल निवृत्ति" नहीं है। पाप निवृत्ति का अर्थ है कि मनुष्य के चित्त पर जो पाप के संस्कार हैं जो वासनायें या वृत्तियां उन सस्कारों से उत्पन्न होती हैं उनका क्षीण होना जिससे भविष्य में पाप करने की प्रवृत्ति न हो। प्रभु के रुद्ररूप को अपने मन में स्थिर करने से, उसको सर्व व्यापी कर्माध्यक्ष जानने से मनुष्य पाप करने से डरता है। वेद में कहा है कि--

स वज्रभृद् दस्युहा भीम उग्रः। (ऋग्वेद)

अर्थ--पापियों के लिये वह वज्र को धारण करता है वह न्यायकारी है। दस्यु अर्थात् दुष्टों का हनन करने वाला है, अन्यायकारियों के लिये भयंकर भय को देने वाला है और उग्र है कठोर दण्ड देता है क्षमा नहीं करता।

इस उग्ररूप का ध्यान करने से मनुष्य भविष्य में पाप की ओर प्रवृत्त नहीं होता परन्तु जो बुरा कर्म किया जा चुका है उसका फल तो अवश्य भोगना ही पड़ेगा।

स्तुति प्रार्थना एवं उपासना का लाभः--

प्रश्न--भगवन्! भगवान् की स्तुति प्रार्थना एवं उपासना से क्या लाभ होता है कुछ स्पष्ट करके समझाइये?

उत्तर--इस युग के आचार्य महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास में निम्नलिखित लाभ स्तुति प्रार्थना एवं उपासना के लिखे हैं:--

स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण कर्म स्वभाव से अपने गुण कर्म स्वभाव का सुधारना । प्रार्थना से निरभियानता उत्साह और सहायता का मिलना । उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना ।

स्तुति का लाभः--

स्तुति का अर्थ चापलूसी व खुशामद नहीं है । चापलूसी या खुशामद किसी को प्रसन्न करने के लिये की जाती है परन्तु ईश्वर तो प्रसन्नता अप्रसन्नता हर्ष और विषाद इन सब द्वन्द्वों से ऊपर है । वह सदा ही आनन्दस्वरूप है खुशामद में अवास्तविकता होती है परन्तु स्तुति में वास्तविकता एवं यथार्थता होती है प्रभु की स्तुति करते समय हम उसके गुणों का पुनः पुनः स्मरण करते हैं उसके महान् गुणों का एवं उसकी अलौकिक रचना का ध्यान करने से प्रभु के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है । हमें उसने सूर्य चन्द्र पृथिवी जल, वायु आदि देकर जो महान् उपकार किया है उसके स्मरण से कृतज्ञता का भाव उत्पन्न होता है । वेदों का लगभग प्रत्येक मन्त्र उसकी विविध शक्तियों का, उसकी विविध कृतियों का तथा अनन्त उपकारों का किसी न किसी रूप में वर्णन करता है इससे हमें प्रेरणा मिलती है कि हम भी तो उसी के पुत्र हैं हमें भी उस जैसा बनने का यत्न करना चाहिये जहां तक सम्भव हो हमें भी अपने गुण कर्म स्वभाव सुधारने चाहियें ।

प्रार्थना का लाभ

प्रभु को प्राप्त करने के लिये अपनी इच्छाशक्ति को प्रबल बनाना, उस पवित्र तम की प्राप्ति के लिये अपने को शारीरिक मानसिक एवं आत्मिक तौर पर शुद्ध करना ही स्तुति है। उस प्रबल इच्छा को कार्यरूप में परिणत करना प्रार्थना है। प्रार्थना का अर्थ याचना नहीं। यह शब्द प्र + अर्थना दो शब्दों से बना है जिसका अर्थ है दृढ़ संकल्प। प्रार्थना का अर्थ मांगना नहीं बल्कि दृढ़ संकल्प के साथ अपनी इच्छा की पूर्ति में लग जाना है जब हम कहते हैं कि:—

"तेजोऽसि तेजोमयि धेहि, वीर्यमसि वीर्य
मयि धेहि, बलमसि बलं मयि धेहि ॥

या

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ॥

तब हम वास्तव में अपने दृढ़ संकल्पों को अपने व्रतों को दोहरा रहे होते हैं जिससे हम अपने व्रत को भूल न जायें। बिना व्रत लिये प्रार्थना करना व्यर्थ है क्योंकि मांगे से तो इन्सान भी नहीं देता, फिर भगवान् क्यों देगा।

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सब के दाता राम॥

यह अकर्मण्यता का उपदेश मानव को कमजोर बनाता है। संसार में देखने में आता है कि उद्यम पुरुषार्थ एवं तपस्या से

ही सब मनोरथ सिद्ध होते हैं आलस्य एवं प्रमाद से नहीं ।

प्रार्थना से निरभिमानता इसलिये आती आवश्यक है क्योंकि जब हम तेज, बल, मेधा आदि के लिये अपने व्रत को स्मरण करते हैं तो उस तेजस्वी बलवान् एवं मेधावी प्रभु को सन्मुख देखकर अपने आप को उससे बहुत छोटा पाते हैं । उत्साह और सहायता इसलिये मिलती है कि हम प्रभु को अपना पिता एवं सखा मानते हुए यह अधिकार समझते हैं कि वह हमारा मार्गदर्शन करेगा जिससे हम शीघ्र ही अपनी प्रियवस्तु को प्राप्त करलें । यदि प्राप्त करने की वस्तु प्रभु स्वयं हो तब तो वह अवश्य मार्ग दर्शन करेगा ही ।

उपासना का फल--

उपासना का अर्थ है समीप पहुंचना, इसका लाभ है शांति एवं आनन्द की प्राप्ति । प्रभु शान्ति स्वरूप है आनन्द स्वरूप है जब हम उसके समीप पहुंचेगे तो उसकी शान्ति एवं आनन्द का कुछ न कुछ अनुभव हमें प्राप्त होना आवश्यक है । ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार स्पष्ट किया है "जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त होजाता है वैसे परमेश्वर के समीप स्थिति होने से सब दोष दुःख छूट कर परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण स्वभाव पवित्र हो जाते हैं । इससे आत्मा का बल इतना बढ़ता है कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरायेगा और सब को सहन कर सकेगा । प्रभु की

समीपता की पहिचान भी यही है कि साधना करते समय जिस समय जीवात्मा शान्ति एवं आनन्द का अनुभव करे, उस समय निश्चय ही वह प्रभु के समीप है। प्रारम्भिक अवस्था में यह समय कुछ क्षण के लिये रहता है फिर निरन्तर अभ्यास से धीरे २ बढ़ता चला जाता है।

दो समय नित्य सन्ध्योपासना तथा अष्टांग योग का अभ्यास ईश्वर स्तुति प्रार्थना एवं उपासना का ही प्रकार है। महर्षि ने लिखा है कि जो परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना नहीं करता वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है क्योंकि जिस परमात्मा ने सब पदार्थ जीवों के सुख के लिये दिये हैं उसका उपकार भूल जाना, ईश्वर को ही न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है।

प्रश्न—भगवन् ! हम भक्त लोगों से सुनते आये हैं कि प्रार्थना में बड़ा बल होता है परमेश्वर बड़ा दयालु है, उससे जो मांगें सो मिल जाता है। आपका कथन है कि मांगे से कुछ नहीं मिलता इसे थोड़ा स्पष्ट करने की कृपा करें।

उत्तर—परमेश्वर महान् है, सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का स्वामी है। प्रकृति का अणु अणु उसकी प्रेरणा से गतिशील है। उसके सन्मुख अपनी इच्छा या व्रत को दोहराने से अपना संकल्प दृढ़ होता है, अभिमान नष्ट हो जाता है आत्मा का बल बढ़ता है, कार्य करने की क्षमता बढ़ती है प्रभु की सहायता भी किसी न किसी रूप में मिलती है और उससे सफलता मिलती

है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिये उद्यम न करे और बैठकर केवल याचना ही करता रहे तो उसे कुछ मिलने वाला नहीं है।

प्रश्न--भगवन् ! आपने कहा है कि स्तुति अर्थात् गुण गान से प्रभु प्रसन्न नहीं होता और प्रार्थना अर्थात् मांगे से कुछ देते नहीं तो साधारण सांसारिक व्यक्ति जिसे मोक्ष प्राप्ति की चाह नहीं, प्रभु मिलन की पिपासा नहीं, वह स्तुति व प्रार्थना में क्यों समय नष्ट करे ?

उत्तर--प्रभु की स्तुति व प्रार्थना में व्यर्थ समय नहीं खोया जाता। इनको नित्य करने से हम कृतघ्नता व महा-मूर्खता के दोषों से अपना बचाव करते हैं। यदि कोई हमें पानी का एक गिलास भी पिला देता है तो हम उसका धन्यवाद करते हैं। जिस प्रभु ने हमारे उपभोग के लिये विशाल सृष्टि बनाई, क्या हमें उसके प्रति कृतज्ञता नहीं प्रगट करनी चाहिये ? महती शक्ति को अपने समक्ष आदर्श के तौर पर रखने से मनुष्य महत्ता की ओर अग्रसर होता जायेगा। यदि कोई ऊंचा आदर्श सम्मुख न हो तो मनुष्य अधोगति को प्राप्त हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य देहधारी प्राणी को असली अर्थों में मानव बनने का यत्न तो करना ही चाहिये। यदि वह ऐसा नहीं करता तो पशुत्व की भावना प्रबल होने से अगला जन्म पशु पक्षियों का ही मिलेगा। दुर्लभ मानव देह पाकर भी जिस प्राणी ने अगले जन्म में अपने लिये मानव देह सुरक्षित न

किया तो उससे अधिक मूर्ख कौन होगा। मोक्षप्राप्ति के लिये ही नहीं अपितु सांसारिक सुख समृद्धि के लिये भी नित्य ईश्वर की स्तुति प्रार्थना तथा उपासना करना परमावश्यक है।

प्रश्न--भगवन् क्या परमेश्वर अशुभ इच्छाओं की पूर्ति में भी सहायक होता है ?

उत्तर--मनुष्य की इच्छाओं की पूर्त्ति का साधन दृढ़ संकल्प तथा तदनुसार पुरुषार्थ है। संसार में देखने में आता है कि केवल शुभ कामनाएं ही नहीं अपितु अशुभ कामनाएं भी सफल हो जाती हैं। परमेश्वर अशुभ इच्छाओं के विरुद्ध मनुष्य के मन में भय शंका व लज्जा को उत्पन्न करता है। वह अशुभ इच्छाओं की पूर्त्ति में सहायक नहीं होता। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र हैं परन्तु अशुभ काममाओं एवं अशुभ कर्मों के फल-स्वरूप दुःख उसको ईश्वरीय नियम के अनुसार भोगना ही पड़ेगा।

सकता । यदि इसमें सन्देह कभी उत्पन्न भी हो तो भी सन्देह करने वाले की सत्ता को तो मानना ही पड़ेगा । अपनी सत्ता का ज्ञान किसी तर्क वितर्क पर आश्रित नहीं है यह स्वतः सिद्ध है । मैं कान से सुनता हूं, आंख से देखता हूं इस प्रक्रिया में देखने एवं सुनने वाला (जीवात्मा) आंख कान इत्यादि शरीर के अवयवों से भिन्न ही मानना पड़ेगा । हम ईश्वर की सत्ता से इन्कार कर सकते हैं परन्तु अपनी सत्ता से कोई भी इंकार नहीं कर सकता ।

इन्द्रियां अपने एक एक विषय को ग्रहण करती है । प्राण शरीर की क्रियाओं का सञ्चालन करता है परन्तु ये आत्मा नहीं है । रात्रि के समय प्राण जागते हैं, परन्तु चोर को नहीं पहिचानते और ना ही पकड़ सकते हैं इसलिये प्राण से भिन्न कोई और चेतन सत्ता है जो सब प्रकार की क्रियाओं का नियमन एवं सञ्चालन करती है जिसकी सत्ता से इन्द्रियां एवं प्राण अपना अपना कार्य करती हैं ।

महर्षि यम ने नचिकेता को समझाते हुए कहा कि

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।

कठ० ५वी वल्ली ५वां श्लोक ।

अर्थ—कोई भी प्राणधारी न प्राण से जीता है और न अपान से, किन्तु सभी देहधारी एक अन्य वस्तु (आत्मा) से जीते हैं, जिसमें वे प्राणापान दोनों आश्रित हैं । जिस समय यह जीवात्मा शरीर को छोड़ देता है तो केवल मिट्टी ही शेष

आत्म ब्रह्म

गुरुवार के सुहावने प्रभात में भक्तजन ठीक समय पर अपने अपने आसनों पर विराजमान हो गये । मौनी बाबा ने आते ही प्रवचन आरम्भ कर दिया ।

उपस्थित भक्तजन !

वेद प्रतिपादित त्रैतवाद के अनुसार इस संसार में तीन सनातन सत्तायें हैं । ईश्वर को पिता प्रकृति को माता तथा जीवात्मा को दोनों का पुत्र कहकर इनका सम्बन्ध बताया गया है । जीवात्मा भी अनादि है, उसकी आयु भी ईश्वर जितनी है ही परन्तु जीवात्मा का पालन पोषण ईश्वर एवं प्रकृति करते हैं अतः उनको पिता माता कहा गया है । प्रकृति से विविध पदार्थों की रचना करके परमकारुणिक प्रभु ने जीवात्माओं के कल्याण के लिये इस संसार की रचना की । प्रकृति से निर्मित किसी पदार्थ की उसे अपने लिये आवश्यकता नहीं है ।

अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, परमाणुवाद एवं विकासवाद आदि वादों के झमेले में समय नष्ट न करके आत्मा की सत्ता के विषय में कुछ शब्द कहूंगा ।

आत्मा की सत्ता--

यदि मनुष्य को किसी बात का पक्का निश्चय है तो वह यह विश्वास है कि "मैं हूं ।" आप किसी की सत्ता पर सन्देह कर सकते हैं किन्तु अपनी सत्ता में आप को सन्देह नहीं हो

रह जाती है, एक दम बदबू पैदा हो जाती है और शीघ्र से शीघ्र इसे चिता पर रखना पड़ता है ।

आत्मज्ञान क्यों आवश्यक है

आत्मा एक महत्वपूर्ण पदार्थ है इंगलैण्ड के एक प्रसिद्ध दार्शनिक ने कहा था कि " Know Thyself " अर्थात् अपने आपको जानो । उपनिषदों में इसकी चर्चा है कि आत्मा को क्यों जानें । बृहदारण्यकोपनिषद् के दूसरे अध्याय के चौथे ब्राह्मण में वर्णित याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद इस विषय पर प्रकाश डालता है । महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी दोनों पत्नियों से कहा कि वह अपने घर एवं ग्राम को छोड़कर जा रहा है अर्थात् संन्यास आश्रम में प्रवेश कर रहा है इस कारण दोनों पत्नियों की अनुमति से वह चाहता है कि सम्पत्ति में दोनों का भाग निश्चित कर दे । याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां – मैत्रेयी एवं कात्यायनी थी ।

मैत्रेयी बोली––हेभगवन् ! यदि यह धनधान्य से परिपूर्ण सारी पृथिवी मेरी होजाये तो क्या मैं उससे मोक्ष प्राप्त कर सकूंगी ।

याज्ञवल्क्य––तू धनधान्य से परिपूर्ण पृथिवी को पाकर अमर नहीं हो सकती किन्तु जैसा धन, गृह, भूमि आदि उपकरणों वालों का जीवन है वैसा ही तेरा जीवन होगा क्योंकि धन से मोक्ष की आशा नहीं है । सम्पत्ति से कभी परमपद नहीं प्राप्त होता ।

मैत्रेयी--जिस धन आदि की प्राप्ति से मैं मुक्त नहीं हो सकती उस धनादि को लेकर मैं क्या करूंगी ? मुझे तो आप मोक्ष का उपाय जो आप जानते हैं वह बताने की कृपा करें।

याज्ञवल्क्य–हे मैत्रेयि,

१– न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति ।
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ।

२– न वा अरे जायायाः कामाय जाया प्रिया भवति ।
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ।

३– न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रियाः भवन्ति
आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रियाः भवन्ति ।

४– न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति
आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति ।

५– न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति
आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रियाः भवन्ति ।

६– न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति
आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रियाः भवन्ति

७– न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति
आत्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति

८– न वा करे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति ।
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।

अर्थात आत्माओं की विविध कामनाओं की पूर्ति के लिए संसार के सब प्राणी चेष्टा करते हैं । वास्तव में कोई किसी

को प्यार नहीं करता । जो कामना की पूर्ति में सहायक होता है वह प्रिय या मित्र और जो कामना की पूर्ति में रुकावट होता है वह शत्रु होता है । अतः महर्षि उपदेश करते हैं कि इस आत्म-तत्त्व को जानो अर्थात् इसके विषय में निरन्तर पढ़ो, सुनों, मनन करो और निदिध्यासन करो ।

इस प्रसंग में दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड । पिण्ड अर्थात् मानव का शरीर और ब्रह्माण्ड अर्थात् यह सारा संसार । कहावत है कि "यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" अर्थात् जो रचना प्रक्रिया एवं तत्त्व पिण्ड में कार्य करती है वह ही ब्रह्माण्ड में करती है । पिण्ड का अधिष्ठाता छोटा सा (अणु) जीवात्मा है और ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता वह सर्वज्ञ सर्वशक्ति-मान् एवं सर्वव्यापक परमात्मा है । ब्रह्माण्ड बहुत विस्तृत है, अनेक विद्याएं एवं अगणित कलायें इसमें विद्यमान हैं । यदि इसका क्रमशः ज्ञान करने लगें तो कई सहस्र जीवनों में भी नहीं कर सकते । इसी प्रकार यदि अपने शरीर का भी हम ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो न जाने कितने जन्म व्यतीत हो जायें । महर्षि इस का हल निम्न प्रकार उपस्थित करते हैं :—

१. स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न वाह्यान् शब्दान् शक्नुयात् ग्रहणाय, दुन्दुभेस्तु ग्रहणेनदुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो-गृहीत : ।।

२. स यथा शंखस्य ध्मायमानस्य न वाह्यान् शब्दान् शक्नु-यात्–ग्रहणाया, शंखस्य तु ग्रहणेन शंखध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ।।

३. स यथा वीणायै वाद्यमानायै न वाह्यान् शब्दान् शक्नुयात् ग्रहणाय, वीणायास्तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ।।

तात्पर्य यह है कि दुन्दुभि शंख या वीणा से निकलते हुए शब्दों को यदि हम पकड़ना चाहें तो हम उन्हें नहीं पकड़ सकते परन्तु यदि दुन्दुभि शंखया वीणा को पकड़लें तो उन सब शब्दों पर हमारा नियन्त्रण हो सकता है इन उदाहरणों से महर्षि कहना चाहते हैं कि यह शरीर दिन रात आत्मा की प्रेरणा से, उसकी कामनाओं की पूर्ति के लिये निरन्तर कार्यरत रहता है। यदि हम इस क्रिया कलाप पर अपना नियन्त्रण चाहें तो शरीर के अंगों पर नियन्त्रण करने से यह नियन्त्रण नहीं हो सकेगा। आत्मा पर नियन्त्रण करने से सारा शरीर स्वयं ही नियन्त्रित एवं स्वस्थ हो जायेगा। इसमें किसी प्रकार की चिन्ता, व्याकुलता, क्षोभ, सुख दुःख, हर्ष शोक, नहीं रहने पावेंगे इसलिए आत्मा को जानने में निरन्तर श्रम करो। इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए महर्षि कहते हैं कि जिस प्रकार आत्मा को जानने से सारे शरीर का ज्ञान होजाता है उसी प्रकार परमपिता परमात्मा को जानने से सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान होजाता है।

आत्मा का लक्षण

जीवात्मा का लक्षण किया गया है :—

"ज्ञातृत्व - कर्तृत्व भोक्तृत्व वानणुः जीवः"

अर्थात् जीवात्मा वह अणु है जिसमें जानने, क्रिया करने और सुख-दुःख भोगने की शक्ति हो। यह लक्षण समस्त चेतन पदार्थों पर लागू होता है न केवल मनुष्य पर। पशु पक्षी कीट-पतंग भी इसी लक्षण के अन्तर्गत आजाते हैं। मनुष्य को एवं सब प्राणियों को ५ ज्ञानेन्द्रियें तथा ५ कर्मेन्द्रियां दी गई हैं ये ही इन्द्रियां जीवात्मा की ज्ञातृत्व एवं कतृत्व शक्तियों को प्रकाशित करने की माध्यम है। ये साधनरूप हैं, उपकरण हैं जिनके द्वारा जीवात्मा अपनी ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व शक्ति का उपयोग करता है।

अब विचारणीय यह है कि जीवात्मा जानने और करने वाला ही है अथवा इसके अतिरिक्त कुछ और भी। यहां अपने अनुभव का आश्रय लेना चाहिये। मैं किसी फूल को देखता हूं। इसके सौन्दर्य से मन में आनन्द उत्पन्न होता है। मैं चाहता हूं कि इसे बार-बार देखूं। फूल को देखने का जो व्यापार है उसका विश्लेषण कीजिए। इसके दो भाग हैं। एक तो मुझे फूल के रूप रंग का ज्ञान हो गया, दूसरे मुझे इस ज्ञान के साथ-साथ आनन्द भी प्राप्त हुआ। मैंने किसी भीषण दृश्य को देखा इस क्रिया के भी दो भाग हैं। प्रथम इस दृश्य का ज्ञान, दूसरे उसे देखने से दुःख हुआ। ज्ञान और सुख-दुःख दोनों मेरे ही अनुभव हैं परन्तु यह अलग-अलग हैं एक नहीं। एक वस्तु के जितने ज्ञान को प्राप्त करके मैं एक समय सुखी होता हूं उसी वस्तु के उतने ही ज्ञान को प्राप्त करके मैं दूसरे समय दुःखी होता हूं।

यदि ज्ञान और सुख-दुःख एक ही अभेद्य अनुभव होते तो ऐसा कदापि न होता । ज्ञानेन्द्रियां जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करतीं हैं उसी ज्ञान के साथ-साथ सुख-दुःख या उदासीनता का भाव भी सम्मिलित है ।

अब किसी क्रिया को देखिये । मैं आज प्रातः काल खुले मैदान में दौड़ने गया इससे मुझको विशेष प्रसन्नता हुई । यदि कोई पूछे कि तुम क्यों प्रसन्न हो तो मैं उत्तर दूंगा कि अभी ताज़ा स्वच्छ वायु का सेवन किया है इससे हृदय प्रफुल्लित हो उठा है । यहां भी दो व्यापार हैं । एक कार्य विशेष को करना और दूसरा आनन्द का उपभोग ।

ज्ञानेन्द्रियें और कर्मेन्द्रियें अन्तःकरण से युक्त होकर जहां ज्ञान एवं कर्म का साधन हैं वहां ये उपभोग का भी साधन हैं :

दार्शनिकों ने जीवात्मा के छः लिङ्ग बताये हैं :–

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुखः ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति

सुख एवं दुःख दोनों भोग के अन्तर्गत हैं इच्छा द्वेष का सम्बन्ध भी सुख और दुःख से है क्योंकि जिस वस्तु से सुख होता है उसको प्राप्त करने की इच्छा होती है और जिससे दुःख होता है उससे द्वेष । प्रयत्नकर्म का सूचक है और ज्ञान तो अलग से लिखा ही हुआ है ।

आत्मा का स्वरूप

ओं हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् होता वेदिषद् अतिथि-
र्दुरोणसत् नृषद् वर सद् ऋतसद् व्योमसद् अब्जा गोजा
ऋतजाअद्रिजा ऋतम्वृहत् ।।

यजुर्वेद १२।१४। एवं १०।२४ कठो. पांचवीवल्ली
श्लोक सं० २।

आत्मा के स्वरूप को समझने के लिये इस मन्त्र से अधिक स्पष्ट वर्णन वैदिक वाङ्मय में मिलना कठिन है। इसमें आत्मा के गुण कर्म एवं स्वभाव सब का बड़ी सुन्दरता से समावेश किया गया है। आइये इस पर थोड़ा विचार करें। सब से प्रथम अन्तिम शब्द में आत्मा को "ऋतम्वृहत्" अर्थात् एक महान् सत्य कहा गया है। इसकी अपनी सत्ता है यह ब्रह्म का केवल अविद्या ग्रसित अंश नहीं है। इतना ही नहीं वह वृहत ब्रह्म अर्थात् महान् है क्योंकि--

१. यह एक नहीं अनेक है, जो चेतना लाखों योनियों में प्रगट हो रही है वह इसी के कारण है।

२. तीन पदार्थ सनातन हैं ईश्वर शुद्ध चेतन है प्रकृति शुद्ध जड़ है आत्मा तत्त्व ही प्रकृति अर्थात् जड़तत्त्व के संघात से इन योनियों का कारण है।

३. इसमें महान् गुण हैं, महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ-प्रकाश के नवम् समुल्लास में निम्न चौबीस गुण गिनाए हैं।

बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजन, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन दर्शन, स्पर्शन, गन्धग्रहण, तथा ज्ञान ।

४. इसी की ज्योति से इन्द्रियां आदि बाह्यकरण और मन बुद्धि आदि अन्तःकरण और दसों प्राण कार्य करते हैं । आत्मा जब शरीर छोड़ जाता है तब कोई करण कार्य नहीं करता

५. सर्वशक्तिमान् प्रभु ने अपनी कोई कामना न होते हुए भी इस जीवात्मा के लिये इतना विशाल ब्रह्माण्ड रचा यह इसके बृहत् होने का सबूत है ।

हंसः शुचिषद्--जिस तरह हंस नामक पक्षी हिमालय में मान-सरोवर के शुद्ध वातावरण में निवास करता है और प्रभु ने उसे यह सामर्थ्य दी है कि वह अपनी चोंच से छानकर दूध को पी लेता है और पानी को छोड़ देता है, उसी तरह आत्मा भी समय आने पर योगाभ्यास के माध्यम से जड़ चेतन के संघात में से प्रकृति एवं पुरुष को पृथक् पृथक् जानने की क्षमता रखता है । इसी को योगदर्शन में विवेक ख्याति कहा गया है ।

वसुरन्तरिक्ष सद्–वह हृदयाकाश में वास करता है । अथर्ववेद में कहा गया है कि आठ चक्रों वाली और नौ द्वारों वाली

इस देवपुरी (मानवशरीर) में एक हिरण्ययकोश है, ज्योति से आवृत है उसमें वह जीवात्मा रूपी यक्ष रहता है।

होतावेदिषद्--जैसे ब्रह्माण्ड में परमात्मा यज्ञ कर रहा है उसी प्रकार इस पिण्ड में जीवात्मा हृदयरूपी वेदि में यज्ञ कर रहा है। यजुर्वेद में कहा है कि "येन यज्ञस्तायते सप्त होता।" अर्थात् जीवात्मा मन बुद्धि एवं पांचों ज्ञानेन्द्रियां के साथ मिलकर इस मानवदेहरूपी यज्ञ का संचालन कर रहा है।

अतिथिदुरोणसद्--दुरोण कहते हैं कुटिया या घर को। यह जीवात्मा लाखों प्रकार के शरीरों अर्थात् योनियों में फिरता है परन्तु स्थायी निवास बनाकर यह किसी भी कुटिया में नहीं बैठता। यह अतिथि है, निरन्तर गतिशील है, किसी योनि विशेष में आने की या उसे छोड़ने की कोई तिथि निश्चित् नहीं है। इसको कर्मफल देने वाला सर्वज्ञ परमेश्वर ही जानता है।

अगले चार शब्दों में मनुष्य योनि की चार श्रेणियों का वर्णन है। यह जीवात्मा अपने प्रयत्न से व्रत, तप, स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानादि से उत्तरोत्तर श्रेणी में वास की क्षमता रखता है।

नृषद्- साधारण मनुष्य के शरीर में

वरसद्- श्रेष्ठ-ज्ञानी वीर धनी या समृद्ध-मानव के शरीर में

ऋतसद्- ऋतम्भरा प्रज्ञा सम्पन्न योगियों के कुल में—गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोभिजायते ।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्
गीता ६।४१ एवं ४२ ।

व्योमसद्– मुक्ति में भी यही जीवात्मा जाता है । ऋषि दयानन्द सरस्वती नवम समुल्लास में लिखते हैं कि मुक्ति में जीव अव्याहत गति से अर्थात् बिना किसी रुकावट के विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतन्त्र (व्योम में) विचरता है ।

इन शब्दों में जहां मानव समाज की चार श्रेणियों का वर्णन है वहां इनसे मनुष्य जीवन के चार सोपानों अर्थात् आश्रमों का भी संकेत मिलता है ।

वृषद्–चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद जब कभी प्रभु की अपार दया से जीवात्मा को मानव चोला मिलता है तब उस का प्रथम कर्तव्य है कि वह नृषद् अर्थात् मनुष्य बने । वेद में आदेश है कि "मनुर्भव अर्थात् इन्द्रियों तथा मन बुद्धि आदि बाह्य तथा अन्तःकरणों के प्रयोग में संयम का अभ्यास करे और ज्ञानोपार्जन करे यह प्रथम सोपान है जिसे शास्त्रों में ब्रह्मचर्याश्रम कहा गया है ।

वरसद्––परम कारुणिक प्रभु ने यह विशाल ब्रह्माण्ड जीवात्माओं के कल्याण के लिये उनके भोग एवं अपवर्ग के लिये रचा है । ब्रह्मचर्याश्रम में पूर्ण शिक्षा पूर्ण यौवन तथा आत्म-विकास को प्राप्त करके मानव गृहस्थाश्रम में अपनी जीविको-

पार्जन के लिये अर्थात् प्रकृति से मिलने वाले भोगों–धनधान्य पद प्रतिष्ठा प्रभुत्व आदि–का आस्वादन करने के लिये किसी कार्य का वरण करता है और उसी के माध्यम से सांसारिक सुखों का उपभोग करता है और उनकी निस्सारता का अनुभव करता है। इसके फलस्वरूप आगामी जीवन में यह विषय उसे आकर्षण नहीं कर पाते क्योंकि स्वयं वरण किये पदार्थों का उपभोग उसने कर के देख लिया है और वह अनुभव करता है कि "भोगाः न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः"

ऋतसद्––पचास वर्ष की आयु तक गृहस्थाश्रम में सांसारिक सुखों का उपभोग करके मानव ऋत अर्थात् सृष्टि के नियमों को तथा उनके माध्यम से सृष्टि के नियामक प्रभु की विचित्र कारीगरी, अपना सामर्थ्य तथा अनन्तज्ञान को हृदयङ्गम करने के लिए वन में अर्थात् प्रकृति माता की गोद में निवास करता है और योगाभ्यास द्वारा ऋतम्भराप्रज्ञा को प्राप्त कर लेता है। इसी को वानप्रस्थाश्रम कहते हैं।

व्योमसद्––ऋतम्भराप्रज्ञा प्राप्त करने के पश्चात् मानव व्योम बिहारी अर्थात् सर्वत्र स्वच्छन्द स्वतन्त्रतापूर्वक विचरने के योग्य हो जाता है और वह सामान्यजनता को धर्म तथा प्रभुस्मरण के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देकर इस संसार में सुख व शान्ति स्थापित करने का यत्न करता है। इसी को शास्त्रों ने संन्यासाश्रम का नाम दिया है।

अगले चार शब्दों में यह बताया गया है कि जीवात्मा किस-किस स्थान पर शरीर धारण कर के उत्पन्न होता है।

अब्जा गोजा ऋतजा और अद्रिजा ।।

इस मन्त्र में मानव चोले के अतिरिक्त चार ऐसे स्थान बताये गये हैं जहां जीवात्मा प्रगट होता है--

अब्जा– नदियां तालाब कूप नालियों आदि में छोटे छोटे जीव के रूप में ।

गोजा-- पृथिवी पर पशु पक्षी कीट पतंग आदि ।

ऋतजा– ऋत शब्द का अर्थ है जल -- यहां इससे अभिप्राय जल के भण्डार समुद्र से है । समुद्र में छोटे-बड़े सब प्रकार के जानवर पाये जाते हैं ।

अद्रिजा– अद्रि कहते हैं पर्वतों को । इन पर स्थावर योनियां वृक्ष वनस्पति आदि उत्पन्न होते हैं ।

मैंने कहा था कि इस मन्त्र में आत्मा के स्वरूप का विशद वर्णन है जिसका सारांश निम्न है :–

आत्मा हंस है प्रकृति पुरुष विवेक की सामर्थ्य रखता है वह वसु है, अल्पज्ञ होने के कारण प्रकृति के उपभोग की कामना उसमें व्यक्त या अव्यक्त रूप में सदा विद्यमान रहती है इसी कामना की पूर्ति के लिये वह भिन्न २ योनियों में वास के लिये चक्कर लगाता है । मुक्ति में भी यह कामना अव्यक्त रूप से रहती है इसीलिये कालान्तर में वह मुक्ति से वापिस ससार में आता है । ऋग्वेद का मन्त्र है :––

'सनो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशये मातरं च ।

ऋ. १।२४।२

वह होता है–इस शरीररूपी यज्ञ का मुख्य होता वही आत्मा है छः जड़ होता उसकी सहायता करते हैं मानव शरीर का सचालक वही है वह अतिथि है–पहिले कहा है कि वह वसु है परन्तु योनि विशेष में वास के लिये कोई निश्चित् तिथि नहीं है, वह योनि दर योनि निरन्तर गति करता है। अन्त में आत्मा को बृहत् अर्थात् ब्रह्म कह दिया। यह मन्त्र परमात्मा परक एव सूर्य परक अर्थ को भी देता है महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद भाष्य में इसका ईश्वरपरक अर्थ किया है।

परन्तु यहां ये अर्थ अभीष्ट नहीं। उपर्युक्त अर्थ उपनिषद् के आधार पर किया है।

यह कह कर मौनी बाबा चुप हो गये, तब भक्तों ने निम्न प्रश्न किये।

सब संसार दुखी क्यों ?

एक भक्त––भगवन् ! आपने कहा कि परम कारुणिक प्रभु ने जीवात्माओं के कल्याण के लिये इस ससार की रचना की परन्तु देखने में आता है कि "नानक दुखिया सब संसार"

मौनी बाबा––देखो जीव अल्पज्ञ है इस विशाल ब्रह्माण्ड में उसका मार्ग दर्शन करने के लिये सर्वज्ञ प्रभु ने एक संविधान बनाया जिसे वेद कहा जाता है। अनेक ऋषि मुनियों ने उसके भिन्न २ अशों की व्याख्या के लिये ब्राह्मणग्रन्थ दर्शन उपनिषद् और अनेक स्मृतियां बनाईं। यदि मानव अपनी अल्पज्ञता के कारण, उन नियमों और आदेशों का

जाने अनजाने उल्लंघन करता है तो दुःख और क्लेश होना स्वाभाविक है ।

परिवार में यदि एक बच्चा अपने पिता एवं माता को आज्ञा पालन नहीं करता । स्कूल में जाने के समय सिनेमा हाल में चला जाता है, सायं भ्रमण का समय जुए एवं शराब में व्यतीत कर देता है । जब माता पिता को इस बात का ज्ञान होगा तो वे पुत्र को अवश्य दण्ड देंगे और वह दुःखी होगा । प्रभु जो दण्ड देता है वह भी सुधार के लिये देता है अपने नादान बच्चों को कष्ट देने के लिये नहीं ।

पिता ने बच्चे को चाकू दिया पेन्सिल बनाने के लिये, कागज काटने के लिये । बच्चों ने अपनी अगुली काटली । इसमें पिता का क्या दोष । यह तो पदार्थ का दुरुपयोग करने वाले बच्चे का दोष है । अल्पज्ञ मानव उस न्यायकारी दयालु भगवान् की आज्ञाओं को जानने का यत्न नहीं करता, जानकर भी अपने पूर्वजन्मों में अर्जित संस्कारों के कारण विषयों की ओर खिच जाता है और दुःख उठाता है ।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि--

कुरंग मातङ्ग पतंग भृङ्गा
मीना, इता पञ्चभिरेव पञ्चाः ।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते ।
य सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ।

अर्थ--हरिण, हाथी, पतंग, भौरा एवं मछली ये पांचों

प्राणी एक-एक विषय-शब्द स्पर्श रूप गन्ध और रस—में फंसकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मानव जो पांचों विषयों में फंसा है वह क्यों कर बच सकता है।

वेद ने चेतावनी दी कि "तेनत्यक्तेन भुञ्जीथा" अर्थात् सांसारिक पदार्थों का भोग तो करो क्योंकि ये पदार्थ बनाये ही जीवात्मा के उपभोग के लिये हैं परन्तु त्यागपूर्वक अर्थात् संयम से। आंखों से भद्र देखो, कानों से भद्र सुनो, अपनी इन्द्रियों की शक्ति को अभद्र कामों में मत लगाओ।

अकुर्वन् विहितं कर्म, प्रतिषिद्धं समाचरन्
प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति।

अर्थ—विहित कर्म को न करता हुआ और निषिद्ध कर्म को करता हुआ, इन्द्रियों के विषयों में फंसा मनुष्य पतन को प्राप्त होता है अर्थात् मरकर पशु पक्षी कीट पतंग की योनियों में चक्कर खाता है।

वह सब का पिता न्यायकारी है और दयालु भी। उसकी दण्ड व्यवस्था-दुष्टों को दण्ड देने व भले व्यक्तियों की सुरक्षा के लिये आवश्यक है। यही उसकी दया है।

अल्पज्ञ जीवात्मा को कार्य स्वातन्त्र्य क्यों ?

प्रश्न—भगवन् ! जब जीवात्मा इतना अल्पज्ञ है कि वह अपना भला बुरा भी सोच नहीं सकता – तो इसे कर्म करने की स्वतन्त्रता क्यों दीगई उसी जीवात्मा को कर्मस्वातन्त्र्य

मिलना चाहिये जो बालिग हो अर्थात् अपना भला बुरा सोचने की क्षमता रखता हो ।

बाबा जी—आपका कहना बिल्कुल ठीक है चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगाने वाले जीवों को कर्म स्वातन्त्र्य नहीं दिया गया । केवल मनुष्य योनि प्राप्त जीवों को कर्म स्वातन्त्र्य दिया गया है यह मानव चोला बड़ा दुर्लभ है जब जीवात्मा इस चोले को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है तभी उसे कर्म स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है । नीतिकारों ने कहा है कि—

मनुजदेहमिमं भुवि दुर्लभम्
समधिगम्य सुरैरपि वाञ्छितम् ।
विषयलम्पटतामपहाय वै
भजत भो मनुजाः परमेश्वरम् ॥

मानव योनि ही एकमात्र कर्मयोनि है शेष सभी योनियां केवल भोगयोनियां हैं, किये कर्म का दण्ड भोगने के लिये ।

अपनी न्यायव्यवस्था में जब किसी जीवात्मा को प्रभु स्वतन्त्रता प्रदान करने के योग्य समझते हैं तब उसे मानव चोला प्रदान कर देते हैं । फिर भी उसे पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं देते । किसी कवि ने कहा है कि—

प्रवृत्तिः संगतिश्चैव तृतीया प्रयतिस्तथा ।
आद्येद्वेतुपराधीने ह्यन्त्या स्वातन्त्र्यमीहते ।

अर्थ– (१) प्रवृत्ति Tendency स्वभाव जो पिछले जन्मों के संस्कारों के अनुसार बन गया है।

(२) संगति (Environment) वातावरण एवं परिस्थितियां जो पिछले कर्मों के फलस्वरूप इस जन्म में प्राप्त हुई हैं।

(३) प्रयत्न (Will) प्रयत्न पुरुषार्थ।

पहिली दो वस्तुएं तो पूर्व जन्मों के कर्मानुसार मिली हैं परन्तु तीसरी वस्तु प्रयत्न तो इस जन्म की चीज है जिसको करने में हम स्वतन्त्र हैं। आदि की दो वस्तुएं भाग्य के आधीन हैं परन्तु तीसरी वस्तु हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर है। इस पुरुषार्थ के बल पर इस जन्म में होने वाले दुःख सुख में किसी सीमा तक परिवर्तन कर सकते हैं। लोक में भी देखते हैं कि यदि कोई कैदी जेल में अच्छा व्यवहार करता है तो उसकी कैद की अवधि कुछ कम कर दी जाती है।

जीव के कर्म स्वातन्त्र्य का दर्शन मनुष्य में स्वाभिमान पैदा करता है, आत्मगौरव पैदा करता है। वह "कर्तुम् अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुम्" की सामर्थ्य रखता है एक छोटे से अणु जीवात्मा के लिए क्या यह कम अभिमान की वस्तु है जबकि यह सारा ब्रह्माण्ड अपने रचयिता के कठोर नियन्त्रण में चल रहा है। हां किये कर्म का फल भोगने में वह अवश्य परतन्त्र है। इसे भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट कर दिया है :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।।

अर्थात् जीवात्मा का अधिकार कर्म करने का है कर्मफल प्राप्त करने का उसका अधिकार नहीं है ।

योनि परिवर्तन का आधार

प्रश्न--भगवन् ! यह योनि परिवर्तन किस आधार पर होता है । यह ठीक है कि यह प्रभु का कार्य क्षेत्र है । मानव का नहीं परन्तु प्रभु के सब कार्य किन्हीं नियमों पर आधारित हैं इसके भी कुछ नियम होंगे, क्या इस विषय पर आप कुछ प्रकाश डालने की कृपा करेंगे ?

उत्तर--यह प्रश्न बड़ा गम्भीर है फिर भी अपनी बुद्धि के अनुसार मैं इसका समाधान करने का यत्न करूगा ।

इस प्रश्न का उत्तर समझने के लिये कर्म सिद्धान्त का गहन अध्ययन आवश्यक है ।

योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि --

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः ।

अर्थात् कर्म की वासना का मूल पञ्च क्लेश-अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश है यह वासना ही वर्तमान और भविष्य में मिलने वाले भोग का कारण है । उन वासनाओं का विपाक ही जाति आयु एव भोग का कारण है । वासना किसे कहते हैं ? बिना रजोगुण के कोई क्रिया नहीं हो सकती । इस रजोगुण का जब सत्त्वगुण से मेल होता है तो ज्ञान धर्म वैराग्य और ऐश्वर्य के कर्मों में प्रवृत्ति होती है और जब तमोगुण

के साथ मेल होता हैउसके उल्टे-अज्ञान अधर्म अवैराग्य और अनैश्वर्य के कर्मो में प्रवृत्ति होती है । ये ही दोनों प्रकार के कर्म शुभ अशुभ या पाप पुण्य कहलाते हैं इन कर्मो से इन्हीं के अनुकूल जो सस्कार चित्त पर पड़ते हैं उन्हीं को वासना कहते हैं इसी को कर्माशय कहा गया है । इन वासनाओं से अनन्त वृत्तियां उत्पन्न होती हैं । जो सस्कार चित्त में प्रबल रूप से उत्पन्न होते हैं उन्हें प्रधान कहते हैं जो शिथिल रूप से रहते हैं उन्हें उपसर्जन कहते हैं । मृत्यु के समय प्रधान वासनाए पूरे वेग से जाग उठती है और अपने जैसे पूर्व सब जन्मों के कर्माशयों को जगा देती है । इ न सब प्रधान सस्कारों के अनुसार ही अगला जन्म ऐसी जाति अर्थात् योनि में होता है जिससे उन कर्माशयों का फल भोगा जा सके और उतनी ही आयु दी जाती है जिस में निश्चित् भोग समाप्त हो सके । इस प्रधान कर्माशय से जो-जो जाति आयु भोग नियत हो गए हैं उनको "नियत विपाक" कहते हैं जो सूत्र में दृष्ट जन्म वेदनीय से बतलाये गए हैं।

इसको एक उदाहरण से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है । मेरे चित्त पर जन्म जन्मान्तरों में सञ्चित काम क्रोध लोभ मोह के संस्कार प्रसुप्त अवस्था में पड़े हैं । एक समय मैं शान्त मुद्रा में बैठा एक प्रभुभक्ति की पुस्तक का स्वाध्याय कर रहा हू । उस समय एक व्यक्ति आता है और जोर-जोर से गालियां देता हुआ कहता है कि तू ढोंगी है, लोगों को दिखाने के लिये किताब हाथ में ले रखी है तेरे जैसा व्यभिचारी एव पापी

व्यक्ति दुनियां के तख्ते पर नहीं इत्यादि इत्यादि । इस प्रकार के अप्रत्याशित अपशब्द सुनकर शान्त मुद्रा भग हो जाती है और मेरे चित्त पर दबे पड़े क्रोध के सस्कार हैं वे प्रबल हो उठते हैं और मैं अपने आप को भूल कर न जाने वाणी से और हाथों से क्या क्या करने लग जाता हूं ।

इस व्यक्ति ने मेरे प्रसुप्त क्रोध के संस्कारों को जगा दिया, मेरा बस चले तो मैं उसे कच्चा खाजाऊं । इस तरह मैंने भेड़िये का रूप धारण कर लिया । यदि इस आवेश की अवस्था में मेरे प्राण निकल जायें तो क्रोध के संस्कार ही प्रधान कर्माशय बनकर नियत विपाक का रूप धारण कर लेते हैं और मैं प्रभु की व्यवस्था के अनुसार भेड़िये की योनि में चला जाता हूं ।

योगीराज श्री कृष्ण भगवान ने गीता में लिखा कि —

यं यं वापिस्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदातद्भाव भावितः ।।

अर्थ—जिन भावनाओं को स्मरण करता हुआ मनुष्य शरीर छोड़ता है उन्हीं के अनुसार योनि को प्राप्त होता है ।

मृत्यु समय उत्थान को प्राप्त भावनाओं के अर्थात् प्रधान कर्माशय के कारण नियत विपाक भी तदनुकूल स्वय निर्धारित होजाता है । सृष्टि अनन्त काल से चल रही है मैं न जाने कितनी बार भेड़िये की योनि में गया हूंगा वे पुराने प्रसुप्त सभी संस्कार उठकर नियत विपाक के निर्धारण में सहायक होते हैं ।

इसीलिए प्रायः कहते हैं कि "अन्त मता सोमता" यह स्मरण रखना चाहिये कि उस समय वृत्तियां, भावनायें बनाये से नहीं बनती । जिस समय शरीर से प्राण खिचना आरम्भ होता है उस समय जीवात्मा एक-ए क करके अपनी सब कामनाओं को छोड़ता चलता है और अन्त में सबसे अधिक प्रिय कामना रह जाती है वही योनि का निर्धारण करती है । अन्त समय किसी का मन पुत्र में, किसी का स्त्री में, किसी का धन में, किसी का अपनी प्रेमिका में और किसी का प्रभु में होता है यही योनि के निर्धारण का कारण होता है ।

उप सर्जन कर्माशय जो अगले जन्मों में भोग्य है परन्तु अभी उनका फल नियत नहीं हुआ है उन्हें "अनियत विपाक" कहते हैं इनको योगदर्शन के सूत्र में "अदृष्टजन्मवेदनीय" कहा है ।

इन उपसर्जन कर्म वासना ओं की तीन प्रकार की गति होती है :—

१— ये बिना पके ही नियत विपाक को किञ्चित् दुर्बल करके स्वयं नष्ट हो जाते हैं ।

२— अथवा नियत विपाक के साथ मिल जाते हैं और समय पाकर अपना फल देते रहते हैं ।

३— या ये चित्तभूमि में वैसे ही दबे पड़े रहते हैं जब तक किसी जन्म में उनको फल देने का अवसर नहीं मिल जाता । जब कभी उनको जगाने वाला कर्माशय प्रधान होता है

तब उस अभिव्यञ्जक को पाकर अपना फल देने के लिये जाग उठते हैं ।

प्रश्न--भगवन आप की इस व्याख्या से तो ऐसा लगता है कि हम स्वयं ही अपनी योनि का चयन करते हैं । क्या यह सत्य है ?

उत्तर--सृष्टि के रचयिता प्रभु ने सृष्टि के सब नियम जीवों के कल्याण के लिये बनाये हैं । देखिये, प्रत्येक प्राणी अपनी वासनाओं, कामनाओं की पूर्ति में ही सुख समझता है, वे कामनायें चाहे अच्छी हों चाहे बुरी । ईश्वर अपनी अनन्त दया से नीचे की योनियों में भेजकर उस की कामना पूर्त्ति का अवसर प्रदान करता है इस नियम से कामना की पूर्ति के साथ आत्मा के मल भी धुल जाते हैं, उसे फिर उन्नति का अवसर मिल जाता है । किसी कवि ने कहा है कि--

१. सुख दुःख दो न चान्योऽस्ति
यतः स्वकृद् भुग् पुमान् ।
आत्मान्मेव मन्येत
कारणं सुख दुःखयोः ।।

२. ऋद्धि रूपं बलं पुत्रः। वित्ताशूरत्वमेव च ।
प्राप्नुवन्ति नरा लोके निर्जितं पुण्य

३. दारिद्रय रोग दुःखानि बन्धन व्यसनानि च ।

आत्मापराध वृक्षस्य फलान्याहु र्मनीषिणः ।।

समय अधिक हो गया है इसलिये इन का अर्थ नहीं करूंगा। इनसे स्पष्ट है कि जीवात्मा स्वयं ही, न केवल योनि का अपितु आयु वं भोग का भी विधाता है। प्रभु का आदेश न मानकर मानव संसार में इतस्ततः दुःख का सामान एकत्रित करने में व्यस्त है।परन्तु फलस्वरूप मिलने वाले दुःख को भोगना नहीं चाहता।

शरीर में जीवात्मा का स्थान

प्रश्न--भगवन् समय तो अधिक हो ही गया है परन्तु एक प्रश्न का और समाधान कर दीजिए – जीवात्मा अणु है शरीर के किस स्थान में बैठकर वह अपना कार्य करता है?

उत्तर--इस प्रश्न का उत्तर महर्षि याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् के चौथे अध्याय के दूसरे ब्राह्मण में निम्न प्रकार दिया :--

जागृत अवस्था में-- दक्षिण नेत्र में।

स्वप्नावस्था में-- कण्ठ में हितानास की नाड़ि में।

सुषुप्तावस्था में-- हृदय में।

यह स्थानों का वर्णन आत्मा के भिन्न भिन्न समय की कार्यक्षमता की दृष्टि से ही केवल किया गया है। इसका मुख्य स्थान हृदय ही है तभी आत्मा का एक नाम "हृदय" अर्थात

हृ--दि--अयम् (हृदय निवासी) भी है। समस्त शरीर में जाल की तरह बिछे हुए ज्ञान तन्तुओं का केन्द्र मस्तिष्क में है इस लिए आत्मा का आवास मस्तिष्क स्थित हृदय में ही माना जाना चाहिये।

तदनन्तर शान्तिपाठ के साथ सभा विसर्जित हुई और भक्तजन मौनी बाबा को कोटिशः धन्यवाद देते हुए अपने-अपने घरों को वापिस चले गये।
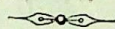
अनमोल वचन

१. जो आकर न जाये वह बुढ़ापा देखा।
   जो जाकर न आये वह जवानी देखी॥

२. सदा गर्म रहें गृहस्थी का चूल्हा, वानप्रस्थी का यज्ञ कुण्ड, ब्रह्मचारी का हृदय और संन्यासी के पैर।

३. लोभ पाप का मूल है।

४. श्रम प्रत्येक वस्तु पर विजय प्राप्त करता है।

प्रकृति ब्रह्म

शुक्रवार प्रातःकाल ठीक समय पर सब भक्तजन उपस्थित थे। मौनी बाबा ने आते ही अपना प्रवचन आरम्भ कर दिया--

उपस्थित भक्तजन !

कुछ दिनों से हम ईश्वर व जीव के विषय में चर्चा कर रहे थे। अब प्रकृति के विषय में भी कुछ विचार आपके समक्ष रक्खूंगा। प्रकृति को माया ठगनी आदि नामों से पुकारा जाता है। माया प्रकृति। 'मा--" अर्थात् समय पर जिसमें संसार समा जाय और "आया" जिस में से प्रकट हो। जितना ईश्वर व जीव के विषय में जानना आवश्यक है उतना ही इस सदा युवती, मन को हरने वाली, जीव को भ्रम में डालने वाली प्रकृति को भी जानना आवश्यक है। सांख्य दर्शनकार कपिल मुनि ने प्रकृति के प्रारम्भिक चौबीस रूप हमारे सन्मुख रखे हैं। उनके द्वारा ही जगत् का रचयिता प्रभु अपनी इस विशाल सृष्टि की रचना करता है।

सृष्टि के उपादान कारण चौबीस तत्व

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः", प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि, उभय मिन्द्रियम्, पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गण, । सांख्यदर्शन अ. १ सूत्र ६१।

सृष्टि के आरम्भ से पहिले प्रलय था । यह सबजगत अन्धकार से आवृत था, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, आकाश-रूप था। परमेश्वर ने सृष्टि उत्पत्ति की इच्छा से अपने सामर्थ्य से कारणावस्था को प्राप्त प्रकृति में हलचल पैदा की। इस प्रभु की इच्छा को वेदों में "तप" व "ईक्षण" कहा गया है। इस ईक्षण से पहिले सत्त्व, रजस्, व तमस् रूपा प्रकृति साम्यावस्था असंश्लिष्ठ अर्थात् (non combind state) में थी। प्रथम वस्तु जो प्रकृति के परिणाम भाव को प्राप्त होने से अभिव्यक्त हुई वह महत्, महान्, विराट या महत्तत्त्व था। सत्त्व रजस व तमस की अधिकता के आधार पर इसके तीन भेद बन जाते हैं :—

महत्सत्त्व, महत्रजस् व महत् तमस् ।

(१) महत् सत्त्व परिणामभाव को प्राप्त होकर समष्टि चित्त को उत्पन्न करता है जो सब व्यष्टि चित्तों का उपादान कारण बनता है ।

(२) महत् रजस परिणामभाव को प्राप्त होकर समष्टि बुद्धि को उत्पन्न करता है जो सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों की व्यष्टि बुद्धियों का उपादान कारण बनता है ।

(३) महत् तमस् परिणाम भाव को प्राप्त होकर तीन प्रकार के अहंकारों को उत्पन्न करता है ये तीनों अहंकार ही १६ तत्त्वों का उपादान कारण बनते हैं ।

१६ तत्त्व निम्न हैं जो अहंकार से उत्पन्न होते हैं ।

५ समष्टि तन्मात्रा–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, व गन्ध ।

५ समष्टि ज्ञानेन्द्रियां–कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना व घ्राण ।

५ समष्टि कर्मेन्द्रियां–वाणी, हस्त, पाद, शिश्न तथा गुदा ।

१ समष्टि मन जो सब इन्द्रियों का राजा है ।

(४) पञ्चतन्मात्राओं से पांच स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश ये समष्टि पदार्थ उपादान कारण के रूप में सदा आकाश में विद्यमान रहते हैं । इनसे बने व्यष्टि पदार्थ प्राणियों के उपयोग में आते रहते हैं । व्यष्टि पदार्थ बनते रहते हैं और कार्य सम्पादन कर समष्टि में विलीन हो जाते हैं । व्यष्टियों का सम्बन्ध मुख्य रूप से जीवों के साथ होता है और समष्टियों का सम्बन्ध ब्रह्म के साथ होता है । ब्रह्म के सन्निधान से समष्टि पदार्थ निरन्तर व्यष्टियों को उत्पन्न करते रहते हैं । ये व्यष्टियें उत्पन्न होकर सदा जीवात्माओं को भोग और मोक्ष प्रदान करते रहते हैं । परन्तु ब्रह्म की व्यापकता व सर्जन शक्ति ही इन समष्टि व्यष्टि पदार्थों को उत्पन्न करने में मुख्य हेतु होती हैं किन्तु उपादानकारण प्रकृति ही रहती है । आइये, साम्यावस्था को थोड़ा और विचार करलें । साम्यावस्था का तात्पर्य है कि जब ये तीनों पदार्थ (सत्त्व रजस् तमस्)

प्रलयकाल में स्थूल से सूक्ष्म होकर कारण रूप ही हो जाते हैं। उस समय कार्यरूप विषमता समाप्त हो जाती है। इस साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है। सत्त्वरजस् तमस् द्रव्य है। ये तीनों अलग अलग पदार्थ हैं इनसे ही सब पदार्थों का निर्माण होता है। यदि इनको गुण मानें तो ये किसी पदार्थ के उपादान कारण नहीं हो सकते, इनमें संयोग वियोग लघुत्व चलत्व गुरुत्वादि धर्म हैं इसलिये ये द्रव्य हैं। पुरुष के बन्ध का हेतु होने से औपचारिक रूप से इन के लिए गुण-रस्सी शब्द का प्रयोग कर दिया है। वस्तुतः ये द्रव्य ही हैं। अथवा पुरुषके साधन होने से भी गुण कहलाते हैं, पुरुष मुख्य है।

सांख्यदर्शन में बतायें चौबीस तत्त्वों का योगिराज कृष्ण ने गीता में निम्न प्रकार से वर्णन किया है :—

महाभूतान्यहंकारोबुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चमेन्द्रियगोचरा ॥

गीता १३।५

अर्थ—पञ्चमहाभूत—पृथिवी अप् तेज वायु व आकाश, अहंकार बुद्धि प्रकृति, दस इन्द्रियां और एक मन तथा पञ्च-तन्मात्र, कुल मिला कर चौबीस तत्त्व।

चौबीस तत्वों के साक्षात्कार से विवेक ख्याति

इन चौबीस तत्त्वों का साक्षात् ज्ञान होने से मनुष्य में प्रकृति पुरुष विवेक पैदा हो जाता है। इनका साक्षात्कार करने

के लिये "संयम" का अभ्यास आवश्यक है। कारण प्रकृति से आरम्भ करके पञ्चभूतों तक परिणाम को प्राप्त हुए पदार्थों का विज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है। मूल प्रकृति के क्रम से बताने पर सर्वसांधारण की समझ में आना कठिन है। मूल प्रकृति का प्रत्यक्ष तो अत्यन्त दुष्कर है। इससे विपरीत स्थूल के क्रम से अभ्यास सुगम होगा। पांच स्थूल भूत जो सब के अन्त में परिणाम को प्राप्त हुए, उनकी उत्पत्ति व विशेष विज्ञान का पहिले साक्षात्कार करना सरल है। इस प्रकार पहिले स्थूल फिर सूक्ष्म का विज्ञान कराने से साधारण पुरुष को समझ में क्रम पूर्वक आता चला जायेगा। यही स्थूल से सूक्ष्म की ओर गमन करना है।

प्रत्येक पदार्थ के विज्ञान की पांच अवस्थायें होती हैं इसी को योगदर्शन में "भूतजय" नामक विभूति कहा गया है :—

स्थूल स्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्व संयमाद् भूतजयः,
विभूतिपाद ४३वां सूत्र।

अर्थ—भूतों को जीतने के लिये भूतों के पांचों रूपों में संयम का प्रयोग करना चाहिये जैसे—

(१) स्थूल—पृथिव्यादि का स्थूलता आकार रंगरूप गुरुत्वादि में संयम

(२) स्वरूप—पृथिव्यादि के नियत गुणधर्म जिनसे ये जाने जाते हैं उनमें संयम।

(३) सूक्ष्म—पृथिवी का सूक्ष्मरूप गन्ध तन्मात्रा है। इसी प्रकार अन्य महाभूतों का है उसमें संयम।

(४) अन्वय--मूल प्रकृति के साथ परम्परागत सम्बन्ध का निर्देश उस पदार्थ का अन्वयरूप है उस में संयम ।

(५) अर्थवत्त्व-उस प्रदार्थ के प्रयोजन का निर्देश अर्थ वत्त्व है । उसमें संयम ।

तीन शरीर व पञ्च कोशों का वर्णन

मनुष्य व अन्य प्राणी दो तत्वों का संघात है - एक जड़ दूसरा चेतन । जड़ के अन्दर चेतन रहता है । चेतन तत्त्व तक पहुचने के लिये जड़ का ज्ञान आवश्यक है । इस देह के जिसको हम जड़ कहते हैं तीन मुख्य भाग हैं ।

१. स्थूल शरीर--पांच भौतिक प्रत्यक्ष दीखने वाला शरीर स्थूल शरीर कहाता है इसके दो भाग हैं उनमें से स्थूल भाग का नाम "अन्नमय कोश" तथा दूसरे भाग का नाम "प्राणमय कोश" है । ये दोनों मिलकर इस शरीर के स्वामी जीवात्मा की स्थूल सेवा करते हैं ।

छान्दोग्य उपनिषद् में प्र० ६, खण्ड ७ श्लोक ६ निम्न प्रकार है जो अन्नमय कोश की सेवाओं को बताता है :--

अन्नमयं हि सौम्य मनः आपोमयः, प्राणः तेजो मयी वागिति ।।

अन्नमशितं त्रिधाविधीयते, तस्य य स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीष भवति, यो मध्यमस्तन्मां स, योऽणिष्ठः तन्मनः ।। आपः पीता स्त्रेधाविधीयेत, तासां यः स्थविष्ठो धातुः

तन्मूत्रं भवति, योमध्यमस्तल्लोहित, योऽणिष्ठः स प्राणः । तेजोऽशित त्रेधाविधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुः तदस्थि भवति, यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठ, सा वाक् ।।

अर्थ--मनुष्य जेसा अन्न खाता है वैसा उसका मन बनता है जैसा पानी अर्थात् दूध रस जल आदि का सेवन करता है वैसा प्राण अर्थात शारीरिक बल पैदा होता है ।जैसे स्निग्ध पदार्थ घृत तेल आदि का सेवन करता है तदनुसार उसकी वाक्शक्ति बनती है । आगे इसकी व्याख्या करते हैं कि जो अन्न खाया जाता है उसका निकृष्ट भाग पुरीष (शौच) मध्यम भाग मांस व उत्तम भाग मन बनता है । जो पानी पिया जाता है उसका निकृष्ट भाग मूत्र बनता है मध्यम भाग रक्त बनता है और उत्तम भाग प्राण बनता है । जो घृतादि सेवन किया जाता है उसका निकृष्ट भाग हड्डी बनता है मध्यम भाग मज्जा व उत्तम भाग वाणी बनती है ।

इस प्रकार हमने देखा कि स्थूल शरीर इस देह में सातों धातुओं को उत्पन्न करने तथा मल मूत्रादि को बाहिर निकाल कर देहयात्रा को चालू रखने का कार्य करता है ।

२-सूक्ष्म शरीर- नस नाड़ी मास अस्थि रहित, वाष्प जैसे अत्यन्त चमकीले तत्त्व से बना, अग-प्रत्यगों से रहित, व्यापक तत्त्व का नाम सूक्ष्म शरीर है । यही स्थूलदेह का संचालक है अर्थात देह से जो कुछ कार्य होता है वह सब क्रियामात्र इसी सूक्ष्म शरीर की प्रेरणा व शक्ति से होती है । इस प्रेरणा में

"ज्ञान तथा क्रिया" ये दो शक्तियां मिली रहती हैं इन दोनों शक्तियों के मिल जाने से जो शक्ति उत्पन्न होती है उस शक्ति का नाम जीवन है। इसी "जीवन" से यह स्थूल शरीर जीवित रहकर सब कार्यकलाप करता है। इस सूक्ष्म शरीर के भी दो भेद हैं :--

१. क्रियाप्रधान भाग; जिसका नाम मनोमय कोश है।

२. ज्ञानप्रधान भाग–जिसका नाम विज्ञानमय कोश है।

आश्चर्य की बात है कि "जीवनी शक्ति सूक्ष्म शरीर की भी अपनी नहीं है। इसे भी यह जीवनीशक्ति प्रदान करने वाला इसमें व्यापक एक अन्य शरीर जिसको कारण शरीर कहते हैं वह है।

३–कारण शरीर–इसको लिंग शरीर अव्यक्त शरीरादि नामों से पुकारा जाता है। यह सूक्ष्म शरीर से भी अति सूक्ष्म है। इसे शक्ति देने वाला होकर भी वह रहता पृथक् है। इसका नाम "आनन्दमय कोश" भी है। यह स्वय प्रकाश का पुञ्ज होकर भी जड़ है इसमें भी जीवन प्रदान करने की अपनी कोई शक्ति नहीं है। चेतन जीवात्मा के प्रयोग से यह पञ्चकोशीय संघात भी चेतन सा प्रतीत होता है।

सत्व रजस् व तमस् ही जीवात्मा के बन्धन के हेतु

भगवान् कृष्ण लिखते हैं कि :—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिम रविः।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ गीता१३।३३।

अर्थ–हे अर्जुन, जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही क्षेत्री अर्थात् शरीररूपी खेत का स्वामी जीवात्मा सम्पूर्ण क्षेत्र अर्थात् शरीर को प्रकाशित कर देता है। क्षेत्र शब्द तीनों प्रकार के शरीरों के लिये प्रयुक्त हुआ है।

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः।
निवध्नन्ति महावाहो देहे देहिनमव्ययम्॥

गीता १४।५।

अर्थ–हे अर्जुन सत्व रजस् तमस् यह प्रकृति के तीनों गुण इस अव्यय अर्थात् अविनाशी जीव को शरीर में बांध कर रखते हैं। इसी अध्याय के छठे सातवें व आठवें श्लोक के अनुसार प्रकाश करने वाला सत्वगुण, निर्मल होने के कारण जीव को सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से अर्थात् ज्ञान के अभिमान से बांध देता है। तृष्णा से उत्पन्न हुआ रजोगुण, रागात्मक होने के कारण जीव को कर्मफल की आसक्ति से बांध देता है और अज्ञान से उत्पन्न तमोगुण, जीव को मोह में डालने वाला होने के कारण उसे प्रमाद आलस्य और निद्रा द्वारा बांध देता है।

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह तमोगुणी व रजोगुणी वृत्तियों को दबावे और सत्वगुणी वृत्तियों को अपने अन्दर बढ़ावे। अपने अन्दर इन वृत्तियों की वृद्धि को जानने के लिये भगवान् कृष्ण ने इसी अध्याय के ११वें १२वें व १३वें श्लोक में निम्न प्रकार पहिचान बताई है :—

जिस समय अन्तःकरण व इन्द्रियों में प्रकाश व ज्ञान उत्पन्न होता है उस काल में सत्त्व गुण बढ़ा हुआ जानो। जिस समय अन्तःकरण में लोभ, सांसारिक कार्यों में प्रवृत्ति अशान्ति व विषय भोगों की लालसा उत्पन्न हो उस काल में रजो गुण को बढ़ा हुआ जानो। जिस समय अन्तःकरण में प्रमाद मोह व काम में प्रवृत्ति प्रतीत हो उस समय तमोगुण को बढ़ा हुआ जानो।

तत्पश्चात् इसी अध्याय के चौदहवें व पन्द्रहवें श्लोक में योगिराज कृष्ण कहते हैं कि यदि मनुष्य सत्त्वगुण की वृद्धि के समय मृत्यु को प्राप्त होता है तब उत्तम कर्म करने वाले, निर्मल व्यक्तियों व देवताओं के घर जन्म लेता है। यदि रजोगुण की वृद्धि के समय निधन को प्राप्त हो तो कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है और तमोगुण की वृद्धि के समय देह त्याग करने वाला व्यक्ति मूढयोनियों में अर्थात् पशु पक्षी कीट पतंग की योनियों में जन्म लेता है।

इसी अध्याय के बीसवें श्लोक में भगवान कहते हैं कि मनुष्य का शरीर २३ तत्त्वों का बना हुआ है ये तत्त्व प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं इसलिये सत्त्व रसस् तसस् इन तीनों गुणों को उल्लघन करने के बाद ही जीव जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा व सब प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाकर उस अमृत स्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर सकता है।

इसी अध्याय के प्रथम श्लोक में भगवान् ने प्रकृति (सत्त्व रजस् व तमस् रूपा) के इस ज्ञान को "ज्ञानानामुत्तमं ज्ञानं"

अर्थात् सर्वश्रेष्ठ व सब से महत्त्व पूर्ण ज्ञान कहा है। इसके साथ ही यह भी कह दिया है कि इस उत्तम ज्ञान को पाकर ही प्राचीन काल में मुनिजनों ने मुक्ति व परमसिद्धि को प्राप्त किया है।

मैंने निवेदन किया था कि प्रकृति से प्रथम वस्तु जो अभिव्यक्त होती है वह महत् है जिसको तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–महत्तमस् महद्रजस् व महत् सत्त्व। आइये इन पर थोड़ा विचार करलें जिससे तमस् रजस् व सत्त्व का स्वरूप भली भांति समझ में आजाए :—

समष्टि महत्तमस् मण्डल

सब पदार्थों में स्थिति, बल, गुरुत्व आदि धर्म हैं वे सब इस तमस् द्रव्य के ही हैं। प्रलय काल में प्रकृति में (समुदयात्मिका) क्रिया का अभाव हो जाता है। उस समय इन तीनों गुणों(द्रव्यों) की विषमता न रहकर समता होती है। प्राणियों में जो अज्ञान आदि धर्म वर्तमान हैं वे सब इसी के धर्म हैं। अतः यह तमस् द्रव्य सब में अनुपतित हुआ है। ससार में विशेष रूप से इस तमस का ही राज्य है। जितनी भी जगत् में योनियां हैं सब पर तमस् ही शासन करता है। सब प्राणी इसके दास बने हुए हैं। मनुष्य योनि में बहुत कम व्यक्ति हैं जिनके शरीर व अन्तःकरण तमस् के प्रभाव से बचे हैं। वे बहुत ऊंचे दर्जे के ज्ञानी, योगी, वीतराग, आत्मदर्शी और ब्रह्मवित् हैं। इसके इशारे पर ही प्रायः सब प्राणी कर्म और भोग कर रहे हैं।

मल विक्षेप और आवरण इसी के धर्म हैं जो सदा हमारी दृष्टि से (न कि वस्तुतः) जीवात्मा और ब्रह्म के स्वरूप को आच्छादित किये रहते हैं, अपने पाश से निकलने ही नहीं देते। जहां जहां इसका विशेष प्रभाव है वहां २ अज्ञान, जडता, मूढ़ता, विषयलोलुपता, दीर्घसूत्रिता व पाप की प्रधानता व नास्तिकता का राज्य रहता है। इसीलिये गीता में कहा है कि

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैकृतिकोऽलसः

विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।। गी: १८।२८ ।।

अर्थ--जब तामस् की प्रधानता होती है तब मनुष्य में निम्न बातें आजाती हैं :--

(१) अयुक्तः-अच्छे श्रेष्ठ कार्यों में मन नहीं लगता।

(२) प्राकृतः-बुद्धि जड़वत् हो जाती है, कुछ सूझता ही नहीं

(३) स्तब्धः--मूर्खता छाजाती है, मूढ़वत् होजाता है।

(४) शठ-पापों में प्रवृत्ति बढ़ती जाती है।

(५) अनैष्कृतिक-निस्कृति अर्थात् पापों के प्रायश्चित् की भावना लुप्त हो जाती हैं।

(६) अलस्-आलसी हो जाता है-शुभ कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती।

(७) विषादी-सदा दुःखी व चिन्तित बना रहता है।

(८) दीर्घसूत्री-सदा सोचता ही रहता है-अच्छा कल

करूंगा, परसों करूंगा, आज प्रातः भजन अभ्यास के लिये नहीं उठा तो कल जरूर उठूंगा।

समष्टि महत् रजो मण्डल

यह क्रिया प्रवृत्ति, कर्म, चञ्चलता व कम्पन गुणों को लेते हुए परिणाम भाव को प्राप्त होता है। यह पदार्थ सदा ही क्रियाशील बना रहता है यह इसका स्वाभाविक धर्म है। जब यह तमस् से साथ मिलता है तो उसे भी गति शील बना देता है। इसके सहयोगी से जितने भी पदार्थ उत्पन्न होंगे उनको सर्वप्रथम यह गतिशील करेगा। तत्पश्चात् अपने अन्य गुणों से उसे प्रभावित करेगा। यह अपने सहयोगी तमस् सत्त्व के साथ सदा सब प्राणियों को दुःख प्रवृत्ति और कर्म में प्रवृत्त करता रहेगा। तृष्णा की जड़ों को बहुत बलवान बना देगा। सदा इसकी जड़ों को तपर्ण करता रहेगा। संसार में लड़ाई झगड़ों का सदा कारण बनता रहेगा। लोक संग्रह और उपार्जन में लगाये रखेगा। लोभ के वशीभूत बनाकर अनेक कर्मों में प्रवृत्ति बनाये रखेगा। आशा को सदा बलवती बनाये रखेगा। ईर्ष्या और संघर्ष इसके मुख्य कार्य होंगे जो कि बुद्धि को सदा अशान्त बनाये रहेंगे। अहर्निश भोगों के उपार्जन में लगाये रखना इसका धर्म तथा कर्म होगा। प्राप्ति और कार्य सिद्धि में हर्ष और विनाश में शोक को जन्म देता रहेगा। अन्तःकरण, इन्द्रियों और शरीर को सदा चञ्चल बनाता रहेगा। धारणा,

ध्यान समाधि में चित्त को कभी लगने नहीं देगा । द्वेष और द्रोह की अग्नि से सन्तप्त करना, दूसरों की उन्नति को देखकर जलना इसका नित्य का कार्य है । दूसरों को दबाना, दमन करना, कुचल देना, शत्रुओं को या अन्यों को परास्त करने में सुख मानना इसका कर्म होगा । दूसरों की बुराई करना, अपने सम्मान की इच्छा करना, अभिमानपूर्वक छाती ठोकना, सदा विलासी जीवन व्यतीत करना, काम भोग में आसक्त रहना अनेक स्त्रियों का सेवन करना इस का कार्य होगा ।

इन्हीं बातों को गीता में निम्न प्रकार कहा है कि--

रागी कर्मफल प्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः
हर्ष शोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः । गीता १८।२७ ।

अर्थ--जब रजस् की प्रधानता होती है तो मनुष्यों में निम्न छः बातें आजाती हैं :--

(१) रागी--सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति उत्पन्न करके कभी न शान्त होने वाली तृष्णा बढ़ जाती है ।

(२) कर्मफल प्रेप्सुः--कर्मों के फल की इच्छा प्रबल रहती है बिना इस इच्छा के कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होती ।

(३) लुब्धः--लोभी अर्थात् संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ जाती है । सन्तोष खत्म हो जाता है ।

(४) हिंसात्मकः--दूसरों को कष्ट देने में आनन्द का

अनुभव करने लग जाता है ।

(५) अशुचिः–अशुद्ध खान-पान–मद्यमांसादि का सेवन करता है ।

(६) हर्ष शोकान्वितः–हर्ष व शोक से प्रभावित होता रहता है ।

वर्तमान युग में रजोगुण अत्यन्त प्रधान बना हुआ है । सुख और शान्ति को पास नहीं आने देता । जितना भौतिक विज्ञान उन्नति कर रहा है उतनी ही परेशानियां अधिक बढ़ती जाती हैं अध्यात्म विज्ञान का साथ में न होना ही परेशानियों का कारण है । कोरा भौतिक विज्ञान तो विनाश की ओर ही लेजायेगा । रजोगुण के साथ समभाग में सत्त्वगुण हो तभी रजोगुण सुख का हेतु होता है ।

समष्टि महत् सत्व प्रधान

इसके ज्ञान प्रकाश सन्तोष व प्रसन्नता मुख्य परिणाम हैं । इसकी प्रधानता में जीवन सुखी व शान्त रहता है । यथार्थ कर्तव्य का पालन होता है धर्मज्ञान वैराग्य की ओर रुचि होती है । भगवान् कृष्ण ने इस विषय में निम्न प्रकार कहा है कि––

मुक्तसंगो ऽ नहंवादी धृत्युत्साह समन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।

गीता १८।२६ ।

अर्थ—जब सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तो मनुष्य में निम्न चार बातें आजाती हैं :—

(१) मुक्तसंगः—सब प्रकार की आसक्ति से रहित हो जाता है।

(२) अनहंवादी—निरभिमानी अर्थात् लोक परलोक सम्बन्धी किसी भी कर्म को करते हुए उसको अभिमान नहीं होता। निष्काम भाव से सदा पर उपकार के कार्य करता है।

(३) धृत्युत्साह समन्वितः—धैर्य व उत्साह से सदा युक्त रहता है इन दोनों गुणों को परोपकार व जन कल्याण के उपयोग में लाता है।

(४) सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकार—सिद्धि असिद्धि हानि लाभ में हर्ष या शोक नहीं करता।

तमस् और रजस द्रव्य के गुण जहां मुख्य रूप से भोग के हेतु हैं वहां सत्त्व द्रव्य के गुण मुख्य रूप से अपवर्ग के हेतु होते हैं। गौण रूप से भोग के भी कारण हैं। योगी और भक्त लोग अनेक वर्ष ही नहीं किन्तु अनेक जन्मों को इस सत्त्व के गुणों को प्राप्त या अभिव्यक्त करने में लगा देते हैं क्योंकि इसके बिना मोक्ष का प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है। प्रभु भक्ति सात्त्विकता का उदय करती है, ज्ञान की वृद्धि करती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकारादि पर विजय प्राप्त करने की शक्ति देती है।

यह कहकर मौनी बाबा ने अपनी वाणी को विराम दिया तत्पश्चात् निम्न प्रकार शंका समाधान हुआ ।

प्रश्न--बाबा जी सत्त्व, रजस्, तमस्, गुण हैं या द्रव्य; इनका स्वरूप क्या है, इनका प्रयोजन क्या है और इनकी क्या क्रिया है ? जरा स्पष्ट करके बताइये ।

उत्तर--सांख्यकारिका १२ में इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है :--

प्रीत्यप्रीति विषादात्मका, प्रकाश प्रवृत्ति नियमार्था ।
अन्योन्याभिमवाश्रय जनन मिथुन वृत्तयश्च गुणा ।।

अर्थ--सत्त्व रजस् किसी द्रव्य के गुण नहीं हैं । सत्त्व रजस् गुण द्रव्य हैं द्रव्याश्रित गुण नहीं । ये एक दूसरे की सहायता से अवयवी को उत्पन्न करते हैं । पुरुष के उपकरण होने और बन्धन का कारण होने से इनको गुण कह देते हैं । प्रकाश क्रिया आदि की भांति द्रव्य में समवेत होने से ये गुण नहीं कहलाते । इनका स्वरूप प्रीति (सुख) अप्रीति (दुःख) व विषाद (मोह) है शनका प्रयोजन--

सत्त्व का प्रयोजन "प्रकाश" रजस् का प्रयोजन प्रवृत्ति" तथा तमस् का प्रयोजन "नियमन" है । यदि तमस् नियमन न करे तो रजस् सत्व को सदा चलाता ही रहे, आराम न किया जा सके ।

इनकी क्रिया निम्न प्रकार है :—

(१) अन्योन्याभिभव--एक दूसरे को दबाना । रजस् प्रधान हो तो सत्त्व व तमस् को दबा देता है, तमस् प्रधान हो तो सत्त्व व रजस् को दबा देता है और यदि सत्त्व प्रधान हो तो रजस् व तमस् को दबा देता है ।

(२) आश्रय--एक दूसरे के आश्रय से, अर्थात् सब एक-दूसरे की सहायता से ही क्रिया करते हैं । सत्त्व प्रकाश को प्रगट करता है परन्तु रजस् व तमस् की सहायता से और प्रकाश द्वारा रजस् व तमस् का उपकार करता है । इसी प्रकार अन्य दो भी दूसरे गुणों की सहायता लेते हैं और एक दूसरे का उपकार करते हैं ।

(३) जनन-साम्यावस्था में एक दूसरे को अपने असली रूप में प्रकट करते हैं ।

(४) मिथुन–एक गुण अन्य दो के साथ रहता है कभी अलग नहीं होता, सब एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, परस्पर अवि-ना भावी हैं ।

प्रत्येक पदार्थ में तीनों गुण पाये जाते हैं हर एक पदार्थ सुख-दुःख व मोह का उत्पादक है । हल्कापन, प्रीति तितिक्षा सन्तोष प्रकाश आदि सुख के साथ उदय होते हैं । चञ्चलता उत्तेजना आदि दुःख के साथ और निद्रा भारीपन आदि मोह के साथ रहते हैं ।

प्रश्न : बाबा जी आपने गीता के आधार पर बताया कि सत्त्व रजस् तमस् इन तीनों गुणों को उल्लंघन करने के बाद ही

जीवात्मा जन्म मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाकर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है यह त्रिगुणातीत अवस्था कैसी होती है ? इसको किसी उदाहरण से स्पष्ट करने की कृपा करें।

उत्तर--सुनिये, चार व्यक्ति सैर को जारहे थे। मार्ग में उन्हें हिरणों की पंक्ति जाती दिखाई दी। उसको देखकर निम्न विचार उनके मन में प्रगट हुए :--एक-मृग का मांस बड़ा स्वादु व गुणकारी होता है। द्वितीय--मृग के सींग बैठक की शोभा हैं। तृतीय--मृगचर्म सन्ध्या वन्दन व आसन के लिये अत्युत्तम वस्तु है। चतुर्थ--मृग सृष्टि रचयिता की एक सुन्दर कृति है।

इनके मनोभावों का विश्लेषण करने से आप जान सकते हैं कि पहिला व्यक्ति तमः प्रधान है, दूसरा रजः प्रधान, तीसरा सत्त्वप्रधान और चौथा त्रिगुणातीत।

प्रश्न---परमेश्वर ने प्रकृति को इतना सुन्दर व आकर्षक क्यों बनाया ? वह जीवात्मा का सखा है फिर उसने जीवात्मा को पथभ्रष्ट करने के लिये यह सौन्दर्य क्यों पैदा किया ?

उत्तर---वह करुणानिधान परमेश्वर जीवात्मा का सखा है, बन्धु है और चाहता है कि उसके अमरपुत्र सदा सुखी व प्रसन्न रहें, वह शांतिस्वरूप है, आनन्द स्वरूप है। वह इस शांति व आनन्द को जीवों में बांट कर उन्हें उपभोग करवाना चाहता है। इसलिये सदा जीवात्मा को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये चमकते हुए सूर्य व चांद के माध्यम से, टिमटिमाते नक्षत्रों के माध्यम से, मुस्कराते हुए फूलों के माध्यम से और मीठे-मीठे

फलों के माध्यम से आमन्त्रित करता है । ये सब चमकीली सुन्दर व आकर्षक कृतियां जीवात्मा का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये हैं, ये उसके विविध निमन्त्रणपत्र हैं । मानव भी निमन्त्रण पत्रों को सुन्दर व आकर्षक बनाने का यत्न करता है ।

सृष्टि का प्रयोजन है जीवात्मा को भोग व अपवर्ग होने के लिये साधन रूप से कार्य करना । प्रभु ने इसे अत्यन्त सुन्दर बनाया जिससे जीवात्मा सुन्दरता से प्रभावित होकर रचयिता को याद करे । यदि हम इस सुन्दरता में फंसकर इसको रचयिता को भूल जाते हैं मायापति को छोड़कर माया की पूजा करते हैं तो यह हमारा दोष है; इसमें परमेश्वर का क्या दोष ।

वेद ने कहा है —

विष्णोः कर्माणि पश्यत ।
यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्य सखा ॥
ऋ १।२।७।१९ ।

अर्थ—उस प्रभु की रचना को देखो वह जीवात्मा का सखा है उससे ही सब प्रकार के व्रत प्रगट हुए हैं । सूर्य को लीजिए—नियमपूर्वक बिना किसी प्रकार के आलस्य व प्रमाद के उदय होता है, प्राणी मात्र को बिना पापी व पुण्यात्मा के भेदभाव के, प्रकाश देता है, उष्णता देता है और प्राणशक्ति का सञ्चार करता है । इसको देखकर हमें भी नियमित जीवन व्यतीत करने तथा यज्ञरूप वृत्ति धारण करने का व्रत लेना चाहिये ।

उसकी रची हुई सुन्दर वस्तुओं का सदुपयोग व दुरुपयोग हमारे हाथ में है क्योंकि परमेश्वर ने जीवात्मा को कर्म करने की स्वतन्त्रता दी है। वह मित्र होने के नाते सदा हमारा भला चाहता है।

त्याग पूर्वक भोग का उपदेश

प्रश्न—बाबा जी ! सृष्टि के पदार्थों का उपभोग मनुष्य को फिर किस प्रकार करना चाहिये जिससे इनमें फंस कर जीवन बरबाद न करें।

उत्तर—वेद में कहा है "तेनत्यक्तेन भुञ्जीथा" इस संसार की वस्तुओं को उस प्रभु की समझकर त्याग पूर्वक भोग करो इन वस्तुओं का उपभोग व उपयोग करते समय इनके रचयिता स्वामी तथा देने वाले प्रभु को न भूलो, उसकी आज्ञा की अवहेलना मत करो। प्रभु को भूल जाना ही पापों को तथा उनसे पैदा होने वाली विपत्तियों को स्वयं निमन्त्रण देना है। यह एक आधार-भूत प्रश्न है जीवनरूपी कला को समझने का प्रश्न है इसलिये थोड़ा और स्पष्टीकरण करना चाहूगा।

मानलो प्रजा ने किसी व्यक्ति को उसकी विद्वत्ता, उसका सदाचार, उसकी सेवा भावना तथा उसके गुण कर्म स्वभाव की अन्य योग्यताओं को देखकर राष्ट्रपति पद के लिये चुन लिया। राष्ट्रपति पद का कार्य सुचारु रूपेण निभाने के लिए प्रजा ने ३६५ कमरों वाला राष्ट्रपति भवन रहने के लिये,

कई सौ नौकर चाकर, दर्जनों गाड़ियां बढ़िया से बढ़िया फर्नीचर तथा अन्यान्य सुख-सुविधायें उसको प्रदान कीं । परन्तु कुछ महीने बीत जाने के बाद इस साजो सामान व सुख-सुविधा की सामग्री में लिप्त होकर वह प्रजा की सेवा के व्रत को भूल जाता है और विलासिता के जीवन पर चल पड़ता है । तो निश्चित् है कि कुछ समय बाद प्रजा उसे राष्ट्रपति पद से हटायेगी । इसी प्रकार यदि मनुष्य प्रभु की दी हुई भोग सामग्री अर्थात् सांसारिक सब प्रकार के ऐश्वर्य को पाकर, इस ऐश्वर्य के स्वामी व देने वाले को भूलकर विलासिता के जीवन पथ पर चल पड़े तो अवश्य मेव ये सब सुख-सुविधायें उससे छीन ली जायेंगी ।

यह सृष्टि नियम सदा ध्यान में रखना चाहिये कि मनुष्य को भोग अर्थात् सांसारिक सुख-सुविधायें पूर्वजन्म के कर्मानुसार मिलती हैं । यदि पूर्व जन्म में प्रभु की आज्ञा का पालन किया है तभी इस जन्म में यह सब सुख-सुविधायें हमें प्राप्त हुई हैं । यदि हम अब यह चाहते हैं कि इस प्रकार की या इससे अधिक सुख-सुविधायें हमें अगले जन्म में भी मिलें तो हमें निरन्तर प्रभु की आज्ञा पालने में तत्पर रहना चाहिये और भी अधिक दृढ़ता से उनका पालन करना चाहिये जिससे ये सुख-सुविधायें बढ़ती जायें । यदि हम ऐसा नहीं करते तो ये सब सुख-सुविधाएं छिन जायेंगी । मत भूलो इन का स्वामी इन्हें दे भी सकता है और छीन भी सकता है :—

इसके बाद शांतिपाठ के साथ सत्संग समाप्त हुआ और भक्त लोग अपने २ घरों को गये ।

वेद-ब्रह्म

शनिवार को प्रातः भक्तजन नित्य की भांति सत्संग के के लिये एकत्रित हो गये और मौनी बाबा ने ठीक समय पर उपस्थित होकर अपना प्रवचन आरम्भ किया।

भक्तजन !

कुछ दिन से मैं आपके समक्ष तीन अनादि सत्ताओं का कुछ विवेचन प्रस्तुत कर रहा था। आज चतुर्थ ब्रह्म अर्थात सर्वज्ञ शक्तिमान् प्रभु के महान् ज्ञान, अर्थात् वेद के विषय में कुछ चर्चा प्रस्तुत करूंगा। ईश्वरीय रचना उभयात्मक है नामात्मक तथा रूपात्मक "स नामारूपे व्याकरोत्" अर्थात् उसने विश्व की रचना दो वर्गों में की एकनाम-अर्थात शब्दात्मक वेद और दूसरा रूप – अर्थात् समस्त विश्व। एक पद दूसरा अर्थ। यही तो अखिल विश्व है। इन दो वर्गों में सब कुछ आजाता है कुछ शेष नहीं रहता। "देवस्य पश्य काव्यम्" की भी यही भावना है उसका काव्य दो प्रकार का है श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य जिनको हम श्रुति और विश्व कहते हैं। इन दोनों रचनाओं का उद्देश्य जीवात्माओं का कल्याण है।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है

समूची मानव जाति की सांस्कृतिक सम्पत्ति के रूप में भिन्न २ भाषाओं में जितने भी साहित्य विकसित एव उपलब्ध हो पायें हैं उनमें कोई भी अन्य साहित्य ऐसा नहीं है जिसे

वैदिक साहित्य की अपेक्षा अधिक पुराना कहा जा सके। साथ ही भाषा काव्य तत्त्व, विचार एव वर्णन प्रकार आदि के गौरव, महत्त्व, गाम्भीर्य एव सौन्दर्य की दृष्टि से उक्त सभी विभिन्न भाषीय साहित्यों के मध्य में वैदिक साहित्य का अपना ही उच्चतम और अनुपम स्थान है। सामान्य भारतीय सस्कृति और विशेषतः आर्य सस्कृति के जीवन का तो वेद ही अनादि काल से मूलाधार चला आता है। वेद ही हमारे यहां के धर्म कर्म एव आचार व्यवहार का निर्णायक सदा से समझा जाता गया है और शेष सब शास्त्रों को परतः प्रमाण अर्थात् वेदानुकूल होने से ही प्रमाण कोटि में माना गया है अन्यथा अप्रामाणिक। इस विषय में मनु जी के निम्न श्लोक ध्यान देने योग्य हैं :—

(क) धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥२।१३॥

(ख) स सर्वो भिहितोवेदे सर्वज्ञानमयोहिसः ॥ २।७।

(ग) भूतं भव्यं भविस्यच्च सर्व वेदात् प्रसिद्धयति।१२।९७।

(घ) वेद मेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्मम् उपधर्मो ऽन्य उच्यते ॥ ४।४७।

ऊपर लिखे अन्तिम श्लोक के आधार पर ही महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज के तीसरे नियम में लिखा कि वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

मनु जी ने इतने पर ही बस नहीं किया, उन्होंने कहा कि "नास्तिको वेद निन्दकः" अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान वेद की जो निन्दा करता है वह वास्तव में परमात्मा की सत्ता को ही नहीं मानता। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि वेद ईश्वर रचित है :—

अग्नि वायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्
दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थं ऋग्यजुः सामलक्षणम् ।। मनु १।२३

अर्थात् तीनों वेद ऋग् यजुः एवं साम उस सर्वशक्तिमान् प्रभु ने अग्नि वायु आदित्य इन तीन अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न हुए ऋषियों के माध्यम से लोक हित के लिये रचे।

यह मान्यता केवल मनु जी की ही नहीं वेद स्वयं इस का उद्घोष करता है :—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानिजज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत । यजुः. ३१।७ ।

यस्माद् ऋचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव स
अथर्व १०।७।१० ।

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य, समाभ्य ।यजु.४०।८

इस प्रकार की शंकायें कि निरवयव अर्थात मुखरहित प्रभु ने शब्दमय वेद को ऋषियों को कैसे सुनाया, कागज लेखनी

स्याहीदवात आदि साधनों के अभाव में वेद पुस्तक कैसे लिखी? प्रभु अन्यायकारी होजायेगा क्योंकि केवल चार ऋषियों को ही क्यों ज्ञान दिया, सबको क्यों नहीं। ये सब प्रश्न बच्चों के से हैं जो प्रभु इतने विशाल ब्रह्माण्ड की रचना बिना हाथ पैर कर सकता है वह हृदय में बैठा हुआ अपनाज्ञान आत्मा को क्यों नहीं दे सकता। प्रारम्भ में वेदपुस्तक रूप में नहीं लिखे गये थे, ये गुरु शिष्य परम्परा से पीढी दर पीढी चलते गये इसी लिये इन्हें श्रुति कहते हैं। आदि सृष्टिमें मोक्ष से लौटी पवित्रआत्माओं को जिन्हें उसने सबसे अधिक पवित्र समझा अपना ज्ञान दे दिया। इसमें कुछ अन्याय नहीं जीवात्माओं को यथावत् कर्मफल देना उसका एक निश्चित् कर्तव्य है।

वेद नित्य है

आजकल वैज्ञानिकों ने यह स्वीकार कर लिया है कि शब्द नित्य है। हजारों साल पूर्व बोले गए शब्दों को पकड़ने का यत्न किया जारहा है। यदि इसमें सफलता मिलगई तो भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, महात्माबुद्ध, महात्मा ईसामसीह पैगम्बर मुहम्मद साहिब के व्याख्यानों को अब भी टेप (रिन्यू) किया जा सकेगा। प्रभु का शब्द मय ज्ञान (वेद) भी नित्य है। अब भी समाधि अवस्था में योगी प्रभु के सान्निध्य के कारण उस ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। जितना हृदय शुद्ध पवित्र होगा एकाग्र होगा उतना ही प्रकाश उन्हें प्राप्त हो सकेगा।

वेदों की उत्पत्ति का समय

वेदों की उत्पत्ति के विषय में पाश्चात्य व कुछ भारतीय विद्वानों ने निम्न अटकलें लगाई हैं :—

वेबर	१६०० ईस्वी पूर्व ।
जैकोबी	१५०० ई० पू० से ४००० ई०पू०तक ।
डा. विन्टर्निज	४००० ई० पू०
बाल गंगाधर तिलक	६००० ई०पू०से ८००० ई० पू० तक ।
प्रो. वेंकटेश्वर	११००० ई० पू० ।
श्री वाडेर	१५००० ई० पू० ।
डा. अविनाश चन्द्र दास	२५००० ई० पू० ।
प० दीनानाथ शास्त्री	३,००,००० ई० पू० ।

परन्तु यह सब अटकलें हैं । युगप्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती का मत है कि मानव सृष्टि के आरम्भ में ही वेदज्ञान प्रभु ने दिया । यदि ऐसा न करता तो पक्षपाती सिद्ध होता है क्योंकि वेद ज्ञान देने से पूर्ववर्ती मानव किस आधार पर अपने जीवनों को चलायें । यह स्वतः सिद्ध है कि जब तक कोई सिखाने वाला न हो तब तक स्वयं ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती । यदि ऐसा न होता तो विद्यालयों और महाविद्यालयों को खोलने

की आवश्यकता न होती। लोग अपने आप ही सब ज्ञान प्राप्त कर लेते। पर जब तक माता पिता आचार्य व अन्य कोई शिक्षक सिखाने वाले न हों तब तक बालक बालिकाओं को ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। यह प्रत्यक्षसिद्ध है।

इसके विषय में समय-समय पर अनेक परीक्षण भी किये गए जिनमें से असीरिया के सम्राट् असुरवाणी पाल, यूनान के राजा सर्मेरिकल सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय, स्काटलैण्ड के जेम्स चतुर्थ और मुगल बादशाह अकबर ने इसके विषय में जो परीक्षण किये हैं, वह महत्त्वपूर्ण और विश्वासजनक हैं, इन लोगों ने बहुत छोटे बच्चों को जंगलों में रखवा दिया और उनके पालन पोषण के लिए गूंगी दाइयों का प्रबन्ध किया। परिणाम यह हुआ कि वे मानवीय भाषा को न सीख सके और उन का व्यवहार वा चाल-चलन पशुओं जैसा ही रहा। रामू नामक, भेड़िये द्वारा पालित बालक का उदाहरण अभी ताजा ही है इसलिये जैसा पिता पुत्र के कल्याणार्थ उपदेश करता है वैसे ही सबके पितृस्थानीय या आदिगुरु परमेश्वर ने सब मनुष्यों के कल्याणार्थ अन्तर्यामी रूपसे जीवों को धर्माधर्म, पापपुण्य, उन्नति के साधन, मनुष्य जीवन का उद्देश्य, शाश्वत् सुख एवं शान्ति के साधन इत्यादि विषयों पर वेदों के द्वारा मानव सृष्टि के प्रारम्भ में उपदेश दिया। यह बात सर्वथा तर्कानुमोदित है।

भारत में प्रत्येक यज्ञ के आरम्भ में ऋत्विग् वरण के समय बोले जाने वाले संकल्प के आधार पर महर्षि ने ऋग्वेदादि

भाष्य भूमिका में निम्न गणना लिखी है :--

६ मन्वन्तर–६ × ७१ × ४३, १०,००० = १८४,०३,२०,०००
७वां मन्वन्तर) – २७ × ४३,२०,००० = ११,६६,४०,०००
२७ चतुर्युगी)
२८ वीं चतुर्युगी के ३ युग ३८,८८०००
कलियुग ५०८१

कुल १,९६,०८ ५३,०८१

यह सृष्टि सम्वत् मानव और वेद की उत्पत्ति का है इस से पूर्व ६ चतुर्युगियां जड़ सृष्टि तथा मानवेतर योनियों की उत्पत्ति में व्यतीत हुई। प्रायः सभी यह स्वीकार करते हैं कि जब यह सृष्टि मानव के कर्म एवं भोग के लिये पूर्णतया तैयार हो गई तब मानव की रचना की गई। प्रचलित सृष्टि सम्वत् १,९७,२९,४९ ०८१ और मानव एवं वेदोत्पत्ति सम्वत् १,९६,०८,५३,०८१ में जो छः चतुर्युगियों का अन्तर है वह इस प्रकार समझ में आ जाता है। प्रत्येक मन्वन्तर के पश्चात् सन्धिकाल मानने की आवश्यकता नहीं है।

वेद किसे कहते हैं

कात्यायन प्रभृति कुछ ऋषि मानते हैं कि "मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" अर्थात् चारों संहिताओं के मन्त्रों के अतिरिक्त

ब्राह्मणों का नाम भी वेद है, आचार्य शंकर ने उपनिषदों को भी श्रुति कहा है परन्तु आचार्य दयानन्द का निश्चित मत है कि चारों संहिता ही वेद हैं । ब्राह्मण-ग्रन्थ या उपनिषदें केवल व्याख्या ग्रन्थ हैं ये मनुष्य रचित हैं ईश्वर रचित नहीं अतः स्वतः प्रमाण भी नहीं ।

वेदों की शाखायें

शाखा शब्द वृक्ष की शाखा या नदी की शाखा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ । इन अर्थों में आयुर्वेद गान्धर्ववेद धनुर्वेद सर्पवेद पिशाचवेद असुरवेद इत्यादि का वर्णन गोपथब्राह्मण में आता है । वेदों में सब सत्य विद्याओं का मूल है उससे भिन्न २ विषयों की शाखायें ऋषि मुनियों ने निकाली हैं । किन्तु यहां शाखा शब्द किसी और अर्थ का द्योतक है । वैदिक काल में वेदों के पठन-पाठन के लिये कई आचार्य कुल या गुरुकुल खुले हुए थे उनके कुलपतियों ने अपने २ आचार्य कुलों में वेद पाठ की अलग-अलग परम्परायें प्रचलित की हुई थीं । इन विभिन्न संग्रहों को शाखा कहा जाता था । वृक्ष की प्रत्येक शाखा सदा शाखा मात्र ही रहती है, कभी भी पूरे वृक्ष की पदवी को प्राप्त नहीं कर पाती परन्तु वेदों की प्रचलित शाखाओं में से एक-एक शाखा स्वय सम्पूर्ण वेद के पद पर प्रतिष्ठित चली आती है । उस-उस आचार्य कुल वालों के लिये उस-उस शाखा के अतिरिक्त कोई और वेद नहीं था ।

वेदों की निम्न शाखायें या संग्रह प्रचलित थे :—

ऋग्वेद	२१	महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में साम-
यजुर्वेद	१०१	वेद के एक हजार "वर्त्मन्" कहे हैं।
साम	१३	जिसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि
अथर्व	९	सामवेद हजारों तरीकों से गाया जाता
	---	था। सहस्र शब्द राग रागनियों का
	१४४	बोधक है।

इनमें से इस समय केवल ११ उपलब्ध हैं :—

ऋग्वेद	१	शाकली।
यजुर्वेद	६	माध्यन्दिनी, काण्वी, तैत्तिरीय,
		काठक कठ और मैत्रायणी।
साम	२	कौथुकी व जैमिनीय।
अथर्व	२	शौनकी व पिप्पलादी।

	कुल ११	

इन ११ में से आचार्य दयानन्द सरस्वती जी ने निम्न चार को ही प्रमाण कोटि में रखा है :—

ऋग्वेद	शाकली शाखा
यजुर्वेद	माध्यन्दिनी ,,
सामवेद	कौथुकी ,,
अथर्ववेद	शौनकी ,,

उनकी यह मान्यता किस आधार पर है यह महर्षि ने कहीं पर स्पष्ट नहीं किया। हो सकता है उन्होंने सभी उपलब्ध शाखाओं का अध्ययन किया हो और उपरोक्त चार में कोई विशेषता पाई हो।

वेदों का अर्थ समझने के लिये ६ वेदांगों का ज्ञान आवश्यक है। वेदांग का अर्थ वेदों के भाग नहीं अपितु वैदिक विद्याओं के बोधक हैं। इनको पूर्णतया जाने बिना वेदों का सही अर्थ समझना कठिन है :—

१—शिक्षा	उच्चारण शास्त्र।
२—व्याकरण	पाणिनि कात्यायन पतञ्जलि की त्रिमूर्त्ति द्वारा लिखित ग्रन्थ।
३—कल्प	कर्म जिनका उल्लेख श्रौत सूत्रों शुल्व सूत्रों गृह्य सूत्रों, धर्म सूत्रों तथा भिन्न २ स्मृतियों में है।
४—ज्योतिष	भारत में अंकगणित बीजगणित रेखा गणित, भूगोल, खगोल, और भूगर्भ विद्या आदि का समावेश ज्योतिष में था।
५—निरुक्त	याष्कमुनिकृत।
६—छन्द	पिंगलाचार्यकृत।

वेद मन्त्रों के देवता ऋषि छन्द और स्वर

वेद के मन्त्रों का अर्थ सम्यक् रूप से जानने के लिये देवता, ऋषि, छन्द और स्वर का ज्ञान होना आवश्यक है। प्रत्येक

मन्त्र के ऊपर ये चारों बातें लिखी होती हैं।

देवता-विषय

प्रत्येक मन्त्र के कई अर्थ हो सकते हैं किन्तु उसके विषय का ज्ञान होने पर अर्थ करने में सुविधा होजाती है। कई मन्त्र वेदों में कई वार आते हैं उनका देवता भेद से अर्थ भेद करना आवश्यक है।

ऋषि--मन्त्रों के साथ ऋषियों का सम्बन्ध कर्ता का है या द्रष्टा का यह विवाद प्राचीन काल से चला आता है। वैदिक अवैदिक दोनों प्रकार के साहित्य में ऐसे प्रचुर प्रयोग उपलब्ध हैं जिनमें कुछ विद्वान् ऋषियों को मन्त्रों का कर्त्ता और अन्य कुछ मन्त्रार्थ का द्रष्टा बताते हैं दोनों वादों में ऋषियों को व्यक्ति विशेष स्वीकार किया गया है परन्तु अनेक सूक्तों में ऋषि तिर्यक् प्राणी व जड पदार्थ हैं निम्न उदारण देखिये :--

कपोतो मैऋत	ऋ।१०।१६५
सरमादेवशुनी	ऋ।१०।१०८
ऊर्ध्वग्रावा सर्पः आर्बुदिः	ऋ।१०।१७५
नद्यः	ऋ ३।३३

ऋषि विषयक कतिपय निर्देश सन्दिग्ध ज्ञान को व्यक्त करते हैं ऋ. ५।४४ में लिखा "अन्ये च दृष्ट लिङ्गा" अर्थात् जैसे चिन्ह दीखें उसके अनुसार ऋषि की कल्पना कर लेनी चाहिये।

इन सब परिस्थितियों पर ध्यान देते हुए कुछ विद्वानों का मत है कि ऋषि "कवि निवद्ध वक्ता" हैं। वेद के महाकवि ने प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल जो उपयुक्त समझा वही नाम-पद वक्ता के रूप में निर्दिष्ट कर दिया। ये मूल रूप में किसी व्यक्ति के नाम नहीं हैं केवल कल्पित हैं। कवि निवद्ध वक्ता का स्वरूप ऐसा ही है जैसे पञ्चतन्त्र में विष्णु शर्मा ने करटक दमनक संजीवक पिङ्गलक आदि नामों का प्रतिपाद्य विषय के वक्ता के रूप में निबन्धन किया है। गीता में अर्जुन कृष्ण दुर्योधन आदि सब कवि निबद्ध वक्ता हैं इस का रचयिता कृष्ण द्वैपायन वेद-व्यास है यह सम्भव नहीं कि युद्ध क्षेत्र में वह सब वार्ता लाप हुआ हो जो गीता में लिखा है। ये ऐतिहासिक नाम होने के कारण हमें भ्रम हो जाता है।

छन्द एवं स्वर

वेदों में मुख्यतया सात छन्द और उनके सात ही स्वर हैं :—

क्रम संख्या	छन्द	अक्षर	स्वर
१.	गायत्री	२४	षड्ज
२.	उष्णिक्	२८	ऋषभ
३.	अनुष्टुप्	३२	गान्धार
४.	बृहती	३६	मध्यम
५.	पंक्ति	४०	पञ्चम
६.	त्रिष्टुप्	४४	धैवत
७	जगती	४८	निषाद

इनका ज्ञान होने पर मन्त्रों द्वारा वायुमण्डल को प्रभावित किया जा सकता है। यह विषय अति गहन है इस पर पर्याप्त शोध और गवेषणा की आवश्यकता है। यज्ञों द्वारा या गायन विद्या द्वारा बादलों का बनाना और वर्षा कराना तभी सम्भव हो सकेगा। जो यत्न या परीक्षण इस दिशा में अभी तक हुए हैं वे नगण्य हैं। यह कहकर मौनी बाबा चुप हो गये। तदनन्तर निम्न प्रश्नोत्तर हुए :—

वेद पढ़ने का अधिकार

एक भक्त—भगवन् ! आपने कहा है कि वेदों के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने का सब को अधिकार है परन्तु गौतम धर्म सूत्र में लिखा है कि :—

अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरण मुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर भेदः ।।

गौतमधर्म सूत्र २।३।४

अर्थः—वेद के सुनने पर शूद्र के कानों में रांगा या लाख भरवा देनी चाहिये, वेद के उच्चारण करने पर जिह्वा कटवा देनी चाहिये और धारण करने पर शरीर अर्थात् हाथ कटवा देना चाहिये।

उत्तर—मध्य काल में वेदों का पठन-पाठन, अध्ययन अध्यापन कम हो गया था, उस समय किन्हीं स्वार्थी विद्वानों ने अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए इस प्रकार के मन-

घड़न्त वाक्य या श्लोक बनाकर धर्मसूत्रों में स्मृतियों में तथा अन्यान्य पुस्तकों में मिला दिये हैं। वेद की स्वयं निम्न आज्ञा है :--

ओंयथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ॥ यजु० २६।२ ॥

अर्थ--मैंने यह कल्याणी वाणी अर्थात् वेदवाणी मनुष्यमात्र के लिए दी है। चाहे ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय हो, चाहे वैश्य हो चाहे शूद्रहो सब को वेद पढ़ना चाहिये।

इस स्पष्ट घोषणा के होते हुए मध्यकालीन स्वार्थी विद्वानों की बात को नहीं माना जा सकता। आज तक भी जगद्गुरु कहलाने वाले शंकराचार्य जैसे सनातनी नेता इन गलत धारणाओं का प्रचार करते रहते हैं। महर्षि दयानन्द की स्त्रियों एवं शूद्रों पर अपार कृपा है कि उसने प्राचीन व्यवस्था को वेदों के आधार पर पुनर्जीवित किया।

प्रश्न--भगवन् ! जिन वेदों का इस लोक में प्रकाश है क्या सूर्य चन्द्रादि लोकों में भी उन्हीं वेदों का प्रकाश है ?

उत्तर--हां, उन्हीं का है। जैसे एक राजा की राज्य-व्यवस्था नीति सब देशों में समान होती है उसी प्रकार राजराजेश्वर परमेश्वर की वेदोक्त नीति विश्व के भिन्न२भागों में क ी है।

क्या वेदों में इतिहास है

प्रश्न--भगवन् ! आपने कहा कि मानव की उत्पत्ति के साथ ही वेद की उत्पत्ति हुई परन्तु हम देखते हैं कि वेद में

पुरुरवा उर्वशी कृष्ण अर्जुन अम्बा अम्बिका अम्बालिका आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम आते हैं और गंगा यमुना सरस्वती आदि नदियों के नाम भी पाये जाते हैं। कृपया इसे स्पष्ट कीजिए।

उत्तर--वेद में तीन संसार हैं, एक संसार मानव देह दूसरा संसार पृथिवी पर स्थित मनुष्येतर प्राणी एवं जड़ पदार्थ तीसरा संसार अन्तरिक्ष है जिसमें सूर्यचन्द्र नक्षत्र विद्युत् वायु मेघादि अनेक पदार्थ हैं। तीसरे संसार को दूसरे संसार से मिलाकर पुराणों में अनेक गाथाएं लिख दी गई हैं जिनसे वेदों में इतिहास होने का भ्रम पैदा हो गया है।

पुरुरवा चन्द्रवंश का मूलपुरुष है उर्वशी के साथ उसके विवाह की कथा प्रचलित है ये दोनों नाम वेद में आते हैं परन्तु वेद में पुरुरवा का अर्थ सूर्य है। और सूर्य की एक किरण का नाम उर्वशी है। सूर्य की किरणों को अप्सरायें भी कहते हैं। वेद में कहा है कि--

सूर्योगन्धर्वस्तस्य मारीचयोऽप्सरसः ।। यजु०१०।३९
गन्धर्वः-पृथिवी को धारण करने वाला सूर्य।
अप्सरसः-अन्तरिक्ष में से गुजरकर पृथिवी पर पहुंचने वाली किरणें।

वेद के शब्दों को ही लेकर लोक में व्यक्तियों के नाम रखलिये गये। आज भी लोग सूर्य आदि नाम रख लेते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वेदों में किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम हैं।

अम्बा अम्बिका अम्बा लिका तीन औषधियों के नाम हं। निम्न मन्त्र में आये ये नाम औषधियों के वाचक हैं न कि स्त्री विशेषों के --

अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न या नयति कश्चन। ससत्यश्वक सुभद्रिकां काम्पील वासिनीय्। यजु. २३।१८।

वेद में कृष्ण एवं अर्जुन दिन के नाम भी हैं :--

अहश्च कृष्ण महरर्जुनं च ।। ऋ. ६।६।१।

गंगा यमुना सरस्वती आदि नाम भी सूर्य की किरणों के हैं। ऋग्वेद में सूर्य की किरणों के ६ नाम दिये हैं :--

ओं इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती शुतुद्रि
स्तोमं सचता परुष्णि आ
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तया
आर्जीकीये शृणुहि आसुषोमया ।। ऋ. १०।७५।५

अर्थात् गंगा यमुना सरस्वती शुतुद्रि परुष्णि असिक्नी मरुद्वृधा वितस्ता और आर्जीकिया ये नौ नाम सूर्य रश्मियों के हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेद के आधार पर मनुष्यों शहरों या नदियों के नाम रख लिये गये हैं वेद में प्रत्येक शब्द यौगिक है। वेद में किसी प्रकार का इतिहास नहीं है।

क्या वेद में भी प्रक्षेप है

प्रश्न--भगवन् मध्यकाल में हमारे सब धर्मग्रन्थों में बहुत सी अनर्गल बातें उस समय के विद्वानों ने स्वार्थवश मिलादी

हैं। क्या वेद में भी कुछ भाग प्रक्षिप्त कहा जा सकता है।

उत्तर—वेदों में किसी प्रकार की मिलावट नहीं हो सकी क्योंकि उस समय के ब्राह्मणों ने इनको कण्ठस्थ करने की प्रथा प्रचलित कर दी। जिस परिवार ने एक वेद को कण्ठ किया उसे वेदी कहने लगे। जिस परिवार ने दो वेदों को कण्ठ किया वे द्विवेदी कहलाये और जिस परिवार ने तीनों वेदों को कण्ठ किया वे त्रिवेदी कहे जाने लगे और जिन परिवारों ने चारों वेदों को कण्ठ करने का व्रत लिया वे चतुर्वेदी कहलाये।

इसके अतिरिक्त एक और युक्ति अपनाई गई उन्होंने वेदमन्त्रों के कई प्रकार के पाठ प्रचलित किये जिससे एक अक्षर भी इधर से उधर न हो सके। मिलावट तुरन्त पकड़ी जा सके वे पाठ निम्न हैं :—

संहिता पाठ, पद पाठ, क्रम पाठ चटा पाठ, माला पाठ, शिखा पाठ, लेखा पाठ, ध्वज पाठ, दण्ड पाठ, रथ पाठ, धन पाठ।

क्रम पाठ का एक उदाहरण देकर आज के वक्तव्य को समाप्त करूंगा।

ओं ओषधयः संवदन्ते सोमेन सहराज्ञा यस्मैकृणोति ब्राह्मणस्त्र राजन् पारयामसि ॥ ऋ. १०।६०।२१।

क्रम पाठ–

ओषधय सम्, सम् वदन्ते, वदन्ते सोमेन, सोमेन सह, सह

राज्ञा, राजेति राज्ञा । यस्मै कृणोति, कृणोति ब्राह्मण, ब्राह्मणस्तम् तं राजन् राजन् पारयामसि, पारयामसीति पारयामसि ।

प्रश्न--भगवन् आप के छः प्रवचन सुनकर यह जानने की इच्छा प्रबल होगई है कि वेदों में क्या लिखा है । हम सुनते हैं कि यज्ञों का कर्मकाण्ड या ईश्वरभक्ति ये दो ही विषय वेद मन्त्रों में वर्णित हैं । क्या मानव के लिये जीवनोपयोगी भी कुछ बातें लिखी हैं ? यदि ऐसा है तो आज नहीं तो कल वे बातें बताने की कृपा करें जिससे हम जैसे साधारण व्यक्ति उन पर आचरण कर जीवन में सुख एवं शान्ति प्राप्त कर सकें ।

मौनी बाबा--यह जिज्ञासा बहुत अच्छी है इस विषय पर मैं कल प्रकाश डालने का यत्न करूंगा ।

तदन्तर शान्तिपाठ के साथ सत्संग समाप्त हुआ और भक्त लोग मौनी बाबा की प्रशंसा करते हुए अपने २ घरों को गये ।

अनमोल वचन

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे ।

यजु० १८।३६

वेदों में क्या कहा है ?

अन्तिम दिन रविवार प्रातःकाल भक्तजन नित्य की भांति सत्संग के लिये एकत्रित हो गये और मौनी बाबा भी ठीक समय पर उपस्थित हो गये और प्रवचन आरम्भ करते हुए बोले :--

भक्तजन, कल एक भक्त ने प्रश्न किया था कि वेदों में क्या लिखा है। कल के प्रवचन में वेदों का माहात्म्य या महत्त्व बताने का यत्न किया गया था। उस से यह प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक ही है कि वेदों में क्या लिखा है। आज इसी विषय पर कुछ चर्चा करूंगा।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के शब्दों में वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। सत्य विद्यायें कौनसी हैं ? जिनका आदि मूल परमेश्वर है। सत्य विद्यायें कितनी हैं ? हमारी बुद्धि के अनुसार असंख्य या अनन्त। परन्तु परमेश्वर उनकी संख्या अवश्य जानता है। तभी तो वह सभी सत्य विद्याओं का समावेश स्वरचित पुस्तक में कर सका। "अनन्ताः वै वेदा" कहकर इसी विचार की पुष्टि की गई है।

वेदों की विषय वस्तु

वेद की विषय वस्तु क्या है इसका संकेत ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के प्रथम शब्द "अग्नि" से भगवान् ने स्वयं कर दिया है। यह शब्द "अञ्चू-गतिपूजनयो" इस धातु से सिद्ध होता है।

"गते स्त्रयोऽर्थाः" के अनुसार गति के तीन अर्थ हैं ज्ञान गमन प्राप्ति इस प्रकार अग्नि शब्द के चार अर्थ हो गये। ज्ञान, गमन, प्राप्ति तथा पूजन। ये ही वेद के मुख्य चार विषय हैं जिन्हें चार भागों में संकलित किया गया है। ऋग्वेद-ज्ञानकाण्ड, यजुर्वेद कर्मकाण्ड सामवेद–उपासना या प्राप्ति काण्ड तथा अथर्ववेद समर्पणकाण्ड या पूजन काण्ड।

ये ही चार सीढ़ियां हैं जिनके आश्रय से मनुष्य उत्तरोत्तर उन्नति की ओर अग्रसर हो सकता है। शास्त्रों में कहा है कि "शतायुर्वैपुरुषः" अर्थात् मनुष्य की आयु औसतन सौ वर्ष की है इसी को शास्त्रकारों ने चार भागों में बांट दिया है। प्रथम २५ वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम ज्ञानोपार्जन के लिये द्वितीय २५ वर्ष गृहस्थाश्रम अपने लिये, परिवार के लिये तथा समाज के लिये कर्तव्य कर्म करने के लिये तृतीय २५ वर्ष वानप्रस्थ आश्रम उपासना व योगाभ्यास के लिये तथा चतुर्थ २५ वर्ष संन्यास आश्रम देश धर्म एवं जाति के लिये आत्मसमर्पण करने के लिये। चार भागों में वेद का विभाजन करके प्रभु ने मानव जीवन के परम लक्ष्य–मोक्ष की प्राप्ति के लिए इन्हीं चार सीढ़ियों की ओर संकेत किया है। यदि हम तनिक विचार करें तो पता लगेगा कि ये सीढ़ियां केवल प्रभुमिलन के लिये ही नहीं, अपितु लोक व्यवहार में किसी छोटी से छोटी वस्तु को प्राप्त करने के लिये भी इनका ही आश्रय लेना पड़ता है। देखिये आप हरिद्वार में ठन्डी कुई के पास वाले मथुरा के हलवाई से चन्द्रकला लेकर खाना चाहते हैं। प्रथम आपको यह ज्ञान होना चाहिये

कि उस हलवाई की दुकान कहां है, किस बाजार में है, किस समय ताजा चन्द्रकला मिल सकती है, आपके स्थान से वह दुकान कितनी दूर है। वहां तक जाने का क्या साधन या सवारी मिलती है इत्यादि सब बातों का सही ज्ञान होना आवश्यक है। तदनन्तर आप रिक्षा या तांगे से गमन क्रिया करेंगे और हलवाई की दुकान के समीप पहुंचेंगे यह उपासना हुई तदनन्तर आप सवा रुपया प्रति नग के हिसाब से हलवाई को पैसे देंगे, यह समर्पण हुआ। तब आप चन्द्रकला का स्वाद ले सकेंगे।

वेद की खूबी देखिये प्रथम शब्द में ही वेदों के चारों भागों का और अभीष्ट प्राप्ति के चारों साधनों का सूत्र रूप से संकेत कर दिया। परन्तु यह ध्यान रहे कि ऋग्वेद में केवल ज्ञान का, यजुर्वेद में केवल कर्म का और सामवेद में केवल उपासना का ही प्रतिपादन हो ऐसा नहीं है। प्रधान विषय ये ही हैं परन्तु गौण विषय के तौर पर ऋग्वेद में कर्म एवं उपासना, यजुर्वेद में ज्ञान एवं उपासना तथा सामवेद में ज्ञान एवं कर्म सभी विषय हैं। आइये इस भूमिका के साथ वेद के चारों विभागों पर क्रमशः विचार करें।

ऋग्वेद-ज्ञान काण्ड एवं ब्रह्मचर्याश्रम

अज्ञान जीवात्मा का सबसे बड़ा शत्रु है। "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते – गीता।" मनुष्येतर योनियों में प्रभु अपनी अपार करुणा से किञ्चिनमात्र स्वाभाविक ज्ञान देता है जिसके आधार पर वे अपना पेट भर सकें और अपनी जीवन

यात्रा को पूर्ण कर सकें। मनुष्य का स्वाभाविक ज्ञान कई अंशों में पशु पक्षियों के कम होता है। गाय भैंस को जन्म से ही तैरना आता है मनुष्य को तैरना सीखना पड़ता है। कुत्ता अपनी तीव्र घ्राणशक्ति से चोर को पकड़ लेता है, मनुष्य नहीं पकड़ सकता। कई पक्षियों को भूचाल का ज्ञान पहिले ही हो जाता है, मनुष्य को नहीं होता। मनुष्य का स्वाभाविक ज्ञान अधिक नहीं होता परन्तु नैमित्तिक ज्ञान संवर्धन की असीम सामर्थ्य उस में होती है। उस ज्ञान संवर्धन के लिये प्रभु ने वेदवाणी दी और मनुष्य को बुद्धि दी। जिस प्रकार प्रकृति के बने पदार्थों को देखने के लिए भगवान् ने सूर्य दिया और मनुष्य को चक्षु दिये। इसी प्रकार सब सत्य विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य को वेद दिया तथा बुद्धि दी।

वेद ज्ञान को ग्रहण करने की क्षमता मनुष्येतरयोनियों में नहीं है। उन में हित अनहित को जानने की बुद्धि तो होती है किन्तु सत्य असत्य को जानने की नहीं। मनुष्य जन्म सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य को ग्रहण करने के लिये ह। ऋग्वेद में दिये ज्ञान के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश निम्न हैं :—

१. ओं इन्द्रंमित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्
   एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति, अग्नि यमं मातरिश्वा नमाहुः॥
   ऋ० १।१६४।४६

भावार्थः—सृष्टि का रचयिता एक है, वह सर्वशक्तिमान् है, उसे इस कार्य में किसी के सहायता की आवश्यकता नहीं। वही

धाता विधाता अर्यमा है, वहां सृष्टि का धारण पोषण एवं नियन्त्रण कर रहा है। इस कार्य में उसे किसीदेवता की सहायता अपेक्षित नहीं। उसका निजनाम "ओ३म्" है परन्तु गुण कर्म स्वभाव के अनुसार कई नाम हैं जैसे अग्नि, मित्र, वरुण इन्द्र यमादि। यें कोई अलग देवता नहीं। ये सब नाम उसी की दिव्य शक्तियों के हैं।

२. ओं त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते
सम्वत्सरे वपत एक एषां ।
विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिः ।
ध्राजिरेकस्य ददृशेन रूपम् ।। ऋ. १।१६४।४४।

अर्थात्—तीन पदार्थ नियमानुसार विविध कार्य करते हैं इनमें से एक परमेश्वर सृष्टि व प्रलय के सन्धिकाल में बीज डालता है अर्थात् ईक्षण शक्ति से गति शून्य प्रकृति में गति का संचार करता है। दूसरा जीव अपने सामर्थ्य से संसार को सब ओर से देखता है ओर इसमें कार्य करता है। तीसरी प्रकृति जिसका वेग अर्थात् कार्य दिखाई पड़ता है परन्तु रूप नहीं दिखाई देता, वह अव्यक्त है। इस मन्त्र द्वारा ईश्वर के अतिरिक्त दो और सनातन सत्ताओं का ज्ञान दिया गया है।

३. अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः ।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ।।
ऋ. १०।४८।१।

भावार्थः—परमेश्वर पुत्रवत् सब जीवात्माओं का संरक्षण और नियन्त्रण करता है। कर्मानुसार अर्थात् उनकी

योग्यता और क्षमता के अनुसार भोग्य पदार्थों का वितरण करता है। अपनी अपार दया से जीवात्माओं के सुधार के लिये दण्ड व्यवस्था भी करता है। ये सृष्टि जीवात्मा के कल्याण के लिये बनाई गई है और सर्वथा पूर्ण है। इसमें जीवात्मा को दुःख देने के लिये किसी प्रकार की योजना नहीं है।

४. ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोध्यजायत ।

ऋ. १०।१९०।१।

भावार्थ—ऋग्वेद में परमाणु से लेकर परमेश्वर पर्यन्त सब पदार्थों के गुण कर्म स्वभाव का वर्णन है। सबसे प्रथम ऋत अर्थात् सृष्टि नियम और सत्य अर्थात् मानव के कर्तव्या-कर्तव्य जिन्हें धर्म कहते हैं उनको बनाया। वेद में केवल प्रादेशिक ज्ञान है मनुष्य अपनी बुद्धि से उस ज्ञान को बढ़ाता है उसे काल्पनिक ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के आधार पर मनुष्य प्रत्येक पदार्थ का सदुपयोग करके अपनी जीवन यात्रा को सुखद एवं सुगम बना सकता है।

५. ओं समानी व आकूति, समानाहृदयानि वः समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति। ऋ. १०।१९१।४।

भावार्थ—यह ऋग्वेद का अन्तिम मन्त्र है। ऋग्वेद से प्राप्त ज्ञान से जीवन में लाभ लने के लिये आवश्यक है कि सभी मनुष्यों की आकूति—निश्चय, उत्साह हृदय—मानसिक विचार धारायें दृष्टिकोण और मन—धारणावती बुद्धि समान हो। भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार की समानता से ही मानव समाज में उत्तम सुखों की वृद्धि होगी।

६. उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् ।
धिया विप्रो अजायत । ऋ. ८।६।२८ ।

भावार्थ—ज्ञानार्जन के लिये परमेश्वर उपदेश करते हैं कि पर्वतों की उपत्यका में और नदियों के संगम पर एकान्त देश में गुरुकुल आदि बना कर ज्ञान वितरण की व्यवस्था की जाये। इनमें देश का प्रत्येक बालक पूर्ण ब्रह्मचर्य पूर्वक रहकर गुरुओं की सेवा करता हुआ विद्योपार्जन में मन लगावें गुरुकुलों में प्रवेश के समय जो व्रत दिलाये जाते हैं वे निम्न हैं।

१. दिन में न सोयें,
२. आचार्य की आज्ञा का पालन करें ।
३. अपनी सारी शक्ति ज्ञानोपार्जन में लगावें ।
४. क्रोध और असत्य का परित्याग करें ।
५. कठोर इन्द्रिय संयम से रहे ।
६. शय्या पर न सोयें, तख्त पर सोयें ।
७. गाना बजाना और नृत्य आदि को त्यागदें ।
८. निन्दा लोभ मोह भय शोक को त्यागदें ।
९. मद्य मांसादि का सेवन न करें ।
१०. घोड़े, ऊंट या हाथी की सवारी नकरें ।
११ जूता और छतरी को धारण न करें ।
१२. युक्ताहार विहार वाला होवे ।

इस प्रकार कठोर तपस्या के साथ जो ज्ञानोपार्जन किया जाता है वह बालक के मन में विनय का आधान करता है,

बालक अपने जीवन में कभी भी उस विद्या को विवाद के लिये नहीं प्रयोग करता अपितु लोकोपकार के लिए प्रयोग करता है।

यजुर्वेद-कर्मकाण्ड एवं गृहस्थाश्रम

मानवेतर सब योनियां केवल भोग योनियां हैं अर्थात् मानव चोले में किये शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए जेलखाने हैं। मनुष्ययोनि को उभय योनि कहा जाता है अर्थात् भोगयोनि एवं कर्मयोनि। है तो यह भी जेलखाना ही परन्तु कर्म करने की सुविधा एवं स्वतन्त्रता प्रदान की गई है जिससे जीवात्मा जन्मजन्मान्तर में संगृहीत अपने दुरितों अर्थात् दुर्गुण दुर्व्यसन और दुःखों को दूर कर सके और भद्र अर्थात् सांसारिक अभ्युदय तथा पारमार्थिक निःश्रेयस को प्राप्त कर सके।

यजुर्वेद में दिये कुछ कर्तव्यों के कुछ उदाहरण निम्न हैं :-

१. ओं त्वं हि नः पितावसो त्वं माताशतक्रतो भूविथ अथाते सुम्नमीमहे॥

भावार्थ—वह प्रभु हमारा पिता है, हमारी माता है वह जो कुछ भी करता है, हमें सुख देने के लिये करता है। यह जगत् एक प्रकार की नाट्यशाला है जिसका निर्देशक स्वयं भगवान् है। हमारी योग्यता एवं क्षमता (कर्म) के अनुसार हमारे लिये राजा मन्त्री या चपरासी का पार्ट नियत करता है। मानव का कर्तव्य है कि निर्धारित पार्ट को ईमानदारी से कर्तव्यबुद्धि से

लोकोपकार अर्थात जनता के मनोरंजन की दृष्टि से अदा करे। इसका कभी विचार न करे कि उसे चपरासी का पार्ट दिया है और उसके साथी को राजा का पार्ट दिया है क्योंकि वास्तव में न वो राजा है और न तुम चपरासी। कुछ समय के लिये पार्ट के अनुकूल वस्त्र पहिनाकर इस जगत् के मञ्च पर छोड़ दिया गया है। उन्होंने निर्देशक के आदेशानुसार जनता का मनोरंजन करना है इसी में सफलता के अनुसार पारितोषिक मिलना है। इसमें किसी प्रकार की हीन भावना या अभिमान को स्थान नहीं। यह संसार भी भगवान् की लीला स्थली है। स्मरण करिये महर्षि दयानन्द के अन्तिम शब्द "हे प्रभु तूने अच्छी लीला की, तेरी इच्छा पूर्ण हो।"

२. अनुबन्ध चतुष्टय—

मानवदेह रूपी वृक्ष के वेदों में चार फल कहे हैं जिनकी प्राप्ति के लिये मानव जीवन भर कठोर तप एवं श्रम करता है, वे हैं धर्म अर्थ काम एवं मोक्ष इन्हीं को "अनुबन्ध चतुष्टय कहते हैं" वैदिक वाङ्मय में इनमें से प्रत्येक की व्याख्या में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इस विषय पर इस समय कुछ अधिक न कहकर मैं केवल "अर्थ" के विषय में मनु जी के आधार पर दो शब्द कहूंगा क्योंकि वर्तमान भोगप्रदानयुग में इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है।

अर्थ से अभिप्राय केवल रुपया पैसा नहीं है स्त्री, पशु, भूमि, पुत्र, अन्न, गृह, मुद्रा तथा अन्य भोग्य पदार्थ सभी अर्थ में सम्मिलित हैं। मनु जी कहते हैं कि "सर्वेषामेव शौचानामर्थ शौचं

पर स्मृतम्–" अन्य सब प्रकार की शुद्धिसे अर्थशुचि अधिक महत्त्व की है। तदनन्तर वे अर्थशुचि की व्याख्या निम्न प्रकार से करते हैं :—

१. अद्रोहणैवे भूतानामल्पद्रोहेण वापुनः,
या वृतिस्तां समास्थाय विप्रोजीवेदनापदि ।।

२. यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैर्कर्मभिरगर्हितैः
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयः ।।

इन दो श्लोकों में निम्न चार नियम धनसञ्चय के लिये प्रतिपादन किये :—

१. किसी प्राणी को कष्ट दिये बिना धनसञ्चय करो, यदि देना ही पड़े तो अत्यन्त स्वल्प कष्ट दिया जाये।
२. जितना धन जीवन यापन के लिये आवश्यक हो उतना ही धन सञ्चय करो ।
३. अपने ही पुरुषार्थ से धन एकत्रित करो, दूसरे के कमाये धन की इच्छा न करो ।
४. किसी निन्दित कर्म के द्वारा भी धन एकत्रित न करो।

३. वर्णव्यवस्था—

मनु जी ने लिखा है कि—

चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोका, चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्
भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति ।।

अर्थात चार वर्ण—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र तीन लोक–

भूलोक अन्तरिक्षलोक और द्युलोक चार आश्रम—ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यास और भूत भविष्यत् और वर्तमान सब वेदों के अनुसार ही व्यवस्थित होता है।

आजकल जन्मजात वर्णव्यवस्था माने जाने के कारण जनता में शास्त्र सम्मत वर्ण व्यवस्था में अनास्था उत्पन्न होगई है परन्तु इस व्यवस्था के प्रति पादक राजर्षि मनु ने स्पष्ट कहा है कि जन्म से सभी शूद्र होते हैं तदनुसार अपने २ गुण कर्म स्वभाव के अनुसार उन को वर्ण दिया जाता है।

इस व्यवस्था का संकेत वेद में भी है—

१— ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहुराजन्यः कृतः
उरूतदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

यजु. ३१।११

२— रुचं नोधेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु न स्कृधि रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ यजु० १८।४०।

यह व्यवस्था किसी भी देश के राष्ट्रीय जीवन की आधार-शिला है। देखिये किसी भी देश या जाति को सुखी एवं समृद्ध करने के लिए त्रिमुखी संघर्ष आवश्यक है—अविद्या से, अन्याय से और अभाव से। जो व्यक्ति देश में अविद्या अज्ञान को दूर करने का व्रत ले और अपना जीवन इसी उद्देश्य की पूर्ति में लगावे उस को ब्राह्मण कहते हैं। जो व्यक्ति देश में से अन्याय अत्याचार व्यभिचार को दूर करने का व्रत ले और अपना जीवन इसी उद्देश्य की पूर्ति में लगाये उसको क्षत्रिय कहते हैं। जो व्यक्ति देश में से अभाव—

पदार्थों की कमी को दूर करने का व्रत ले और अपना जीवन इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये लगादे इस को वैश्य कहते हैं। जो व्यक्ति अव्रती हो अर्थात् इन कठोर व्रतों में से एक को भी न ले सके वह शूद्र कहलाता है। यही वैदिक वर्ण व्यवस्था है इसके बिना देश में समृद्धि सुख एवं शान्ति नहीं हो सकती। वर्ण व्यवस्था का प्रचलित रूप अवश्य त्याज्य है।

४– पञ्चमहायज्ञ––

वेदों की शिक्षा के अनुसार मनुष्य का जीवन यज्ञ वृत्तिपर–परोपकार व सेवा वृत्ति पर आधारित होना चाहिये न कि स्वार्थवृत्ति पर। इसीलिए गृहस्थी के लिये नित्यकर्म में पञ्च-महायज्ञों का विधान किया गया है। इस नित्यकर्म के पालन से मानव में स्वार्थवृत्ति कम होगी और यज्ञ वृत्ति दिनप्रतिदिन बढ़ती जायेगी। मनु जी लिखते हैं कि ––

ब्रह्मयज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ मनु. ४।२१

अर्थात् ब्रह्मयज्ञ–वेदादिशास्त्रों का स्वाध्याय सन्ध्योपासन योगाभ्यास आदि, देवयज्ञ विद्वानों का संग सेवा अग्निहोत्रादि पितृयज्ञ–जीवित माता पिता गुरुजनों की श्रद्धा से सेवा करना और उन की तृप्ति करना नृयज्ञ–अतिथि अर्थात् विद्वान् सदाचारी संन्यासियों की सेवा भूतयज्ञ–वलिवैश्वदेव अर्थात कुत्ते आदि के लिये भोजन का कुछ भाग निकालना इन पञ्च महायज्ञों को यथाशक्ति कभी न छोड़े। इनका न करना महापाप

बताया गया है कारण यह है कि मानव सर्वश्रेष्ठ योनि है उसे प्राणि मात्र के भोजन का, उन की सुविधा का ध्यान रखना चाहिये ।

५– पारिवारिक सद्भावना––

वेद में लिखा है कि––

१– ओं अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवति संमनाः
जायापत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥
अथर्व ३।३०।२ ।

२. ओं मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥
अथर्व ३।३०।२ ।

भावार्थ––पुत्र पिता के अनुकूल चले, उसकी आज्ञा में रहे, माता के साथ एकमन वाला हो । पत्नी पति के लिये मीठी और शान्ति देने वाली वाणी बोले । भाई भाई के साथ द्वेष न करे । बहिन बहिन के साथ द्वेष न करे । एक मत और एक व्रत होकर परस्पर भद्र बातचीत करें । एक दूसरे को बुरा भला न कहें ।

६– यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ मनु. ६।९०

भावार्थ–गृहस्थाश्रमी लोग ही धनोपार्जन करते हैं शेष तीनों आश्रम उन की कमाई पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं । ब्रह्मचारी वानप्रस्थी तथा संन्यासी सब गृहस्थियों पर ही आश्रित हैं । अतः यह आश्रम समुद्र के समान है जिसमें सभी नदी नाले आकर अन्तिम आश्रय पाते हैं ।

सामवेद उपासना काण्ड एवं वानप्रस्थाश्रम

उपासना का अर्थ है अपनी अभीष्ट वस्तु के समीप पहुच जाना। जब मानव किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये या किसी पदार्थ की प्राप्ति के लिये ज्ञान पूर्वक कर्म (प्रयत्न) आरम्भ कर देता है तो वह अपने लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाने लगता है परन्तु लक्ष्य की प्राप्ति की मंजिल दूर होती है। महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन में लिखते हैं कि —

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ़भूमि।
योगदर्शन १।१४।

अर्थात् बहुन काल तक, निरन्तर अर्थात् व्यवधान रहित और सत्क्रिया श्रद्धा वीर्य भक्तिपूर्वक प्रयत्न करते रहने से ही सफलता मिलती है। परम कारुणिक प्रभु ने मानव को उड़ने के लिए अर्थात् अपने उत्थान के लिये ज्ञान एंव कर्मरूपी दो पंख दिये हैं जिनके सहारे वह उड़ सकता है परन्तु तीसरी वस्तु पूंछ भी आवश्यक है जो पतवार का कार्य करती है अर्थात् ज्ञान एवं कर्म को सही दिशा में ले जाने के लिए सहायक होती है। प्रभु की सत्ता का ज्ञान और अपने कर्त्तव्य का ज्ञान इतना ही पर्याप्त नहीं। प्रभु की सर्वव्यापकता एवं जीवन में कठोर तपस्या व्यवहार के अंग बनने चाहियें तभी लक्ष्य की ओर प्रगति हो सकेगी। इसी का नाम उपासना है इसके बिना सम्भव है कि ज्ञान एवं प्रयत्न हमें विपरीत दिशा में लेजावें इन्हीं तीन पंखों का वर्णन अथर्ववेद में निम्न प्रकार किया है :—

ओं त्रयः सुपर्णाः उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिता । स्वर्गाः लोकाः अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम ।। अथर्व १८।४।४

अर्थः—तीन पंख ज्ञान कर्म एवं उपासना ऊपर की ओर लेजाने वाले हैं, इनके द्वारा स्वर्गलोक में पहुंचजाते हैं । यह स्वर्ग-लोक अमृत से युक्त है और यजमान अर्थात् ज्ञान कर्म एवं उपासना के प्रयोगी को इष–अन्न और ऊर्ज–प्राणशक्ति देते हैं । "इषं वै अयं लोकः ऊर्जं परलोकः" के अनुसार दोनों लोकों में सुख एवं शान्ति देते हैं ।

उपासना काण्ड अर्थात् सामवेद के आरम्भ से पूर्व यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में इसी प्रकार की चेतावनी दीगई है । विद्या एवं अविद्या अर्थात् ज्ञान एवं कर्म तथा सम्भूति एवं असम्भूति अर्थात् कार्यरूप प्रकृति एवं कारणरूप प्रकृति के समन्वय से समता प्राप्त करने के साथ ही कहा है कि ––

ओं वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ओं क्रतोस्मर क्लिबे स्मर कृते स्मर ।। यजु० ४०।१५

अर्थात् हे मानव, जीवन के प्रत्येक क्षण में यह न भूलना कि तेरा गन्तव्य स्थान ओं है उसका सदा स्मरण रखना । यह शरीर एक रथ है जो भस्म हो जायेगा यह भी याद रखना कि वही एक मात्र तेरा सहायक है जब कठिनाई पड़े उसी से सहायता मांगना । अपने कर्मों का नित्य सायं प्रातः निरीक्षण करते रहना ।

उपासना के क्षेत्र में प्रवेश करने का यह पूर्वाभ्यास है। इस क्षेत्र में प्रवेश करते ही भक्त की भावना को सामवेद के प्रथम सूक्त के दो मन्त्रों में व्यक्त किया गया है :—

ओं अग्न आयाहि वीतयेगृणानो हव्य दातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥
ओं अग्नि दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥

भावार्थ—भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे ज्ञान स्वरूप और सब की कामनायें पूर्ण करने वाले प्रभो मैं दीर्घकाल से निरन्तर आपकी स्तुति कर रहा हू, आपकी प्रतीक्षा कर रहा हू कि मेरी भक्ति का फल देने के लिये आप मेरी हृदयरूपी वेदी में कब हव्य डालेंगे। मैंने तुझे वर लिया है, तू विश्व के प्रत्येक जीवात्मा को जानता है, उनके दुष्कृत और सुकृतों को भी जानता है मुझे सुक्रतु करदें तू ही साध्य है और तू ही साधन बनजा।

सामवेद में अनेक मन्त्र हैं जिनका आशय यही है कि उस सर्वशक्तिमान प्रभु की स्तुति करो, उसके गुणों का गान करो, अपने मन को पवित्र करो, तभी हम उसकी समीपता को प्राप्त कर सकेंगे। बिना उसका सान्निध्य प्राप्त किये "आनन्द नहीं प्राप्त हो सकेगा क्योंकि वह अलौकिक वस्तु किसी अन्य के अधिकार में नहीं।

आयु के तृतीय चरण में वानप्रस्थ का विधान है। वानप्रस्थ की दीक्षा के लिये लिखा है कि इष्टमित्रों से मिल,

पुत्रादिकों पर घर का भार धर अग्निहोत्र की सामग्री सहित जंगल में जाकर, एकान्त में निवास करे और योगाभ्यास, शास्त्रों का विचार, महात्माओं का संग करके स्वात्मा और परमात्मा को साक्षात् करने में प्रयत्न करे। इस आश्रम में निवास करता हुआ व्यक्ति पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा को छोड़ने का अभ्यास करता रहे। जब सांसारिक किसी पदार्थ की कामना मन में न रह जावे और समाधिसिद्ध हो जावे तब चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करे।

अथर्ववेद विज्ञान काण्ड एवं संन्यासाश्रम

अथर्ववेद को अथर्ववेद इसलिये कहते हैं कि यह अथर्वा-निश्चल-सदा एक रस रहने वाले परमेश्वर का वर्णन करता है इसीलिए इसे ब्रह्मवेद भी कहते हैं। इसके प्रथम सूक्त के प्रथम चार मन्त्रों का देवता वाचस्पति है जिसका अर्थ है वेद-वाणी का स्वामी। इसका एक और अर्थ भी किया जाता है "वाचस्पतिर्वै होता"। होता शब्द बड़ा सारगर्भित है। यह शब्द "हु-दानादानयो" धातु से निष्पन्न होता है। अतः होता का अर्थ हुआ देने वाला और लेने वाला। परमेश्वर कर्मानुसार जाति आयु भोग देता है और वह ही नियत अवधि के पश्चात् यह सब कुछ ले भी लेता है। इसके प्रयोगमात्र का मानव को अधिकार है स्वामित्व दाता का ही है।

इस स्थिति में पहुंचकर मानव सृष्टि के कण कण में उप-स्थित प्रभु की महिमा को देखने का अभ्यासी होजाता हैं।

इस स्थिति के द्योतक अथर्ववेद के दो मन्त्र आपके सम्मुख उपस्थित करता हूं।

१. ओं यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति
यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते
राजा तद् वेद वरुणस्तृतीय ।। अथर्व ४।१६।२

२. ओं सर्वं तद् राजा वरुणो विचष्टे
यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात् ।
असंख्याता अस्य निमिषो जनानाम्
अक्षानिव श्वघ्नी निमिनोति तानि ।।
अथर्व ४।१६।५ ।।

भावार्थः—भक्त भगवान् की सर्व व्यापकता को अनुभव करता हुआ कहता है कि हे वरुण राजन् जो खड़ा, चलता ठगता या छिपकर चलता और दुःख से जीता है, इन सब को आप जानते हैं। जो दो पुरुष मिलकर अच्छी बुरी गुप्त सलाह करते हैं उन दोनों में तीसरे होकर आप वरुण राजा उस सब को जानते हैं। हे सर्वश्रेष्ठ प्रभो, ऊपर का द्युलोक, नीचे का पृथिवी लोक और इन दोनों में जो प्राणिमात्र वर्तमान हैं उन सब को आप अपनी सर्वज्ञता से देख रहे हो। प्राणियों के नेत्र स्पन्दनादि सब व्यवहार आपने गिने हुए हैं। जैसे कोई जुआरी पासों को जानकर फेंकता है ऐसे आप ही प्राणियों के शुभ अशुभ कर्मों के फल प्रदाता हैं।

इस प्रकार उसकी सर्वज्ञता सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्ति-मत्ता को अनुभव करता हुआ भक्त प्रभु मिलन के लिये सर्वस्व बलिदान करने के लिये तैयार होजाता है। यही भगवान् चाहते हैं

देखिये अथर्व वेद के १९वें काण्ड का अन्तिम मन्त्र जो विशेष ध्यान देने योग्य है :--

ओं स्तुता मया वरदा वेदमाता
प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।।

अथर्व १९।७१।१

भावार्थः—परम कारुणिक प्रभु अपनी कल्याणी वाणी वेदमाता का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि हे मेरे पुत्रो मैंने तुम्हारे कल्याण के लिये इस वेदवाणी को प्रस्तुत किया है। यह तुम्हें मनोवाञ्छित फल देने वाली है। तुम्हारा भला इसी में है कि जीवन को पवित्र करने वाली इस वाणी से प्रेरणा प्राप्त करो। ये वाणी तुम्हारे लिये ब्रह्मचर्य गृहस्थ एवं वानप्रस्थ आश्रम में आयु–शारीरिक स्वास्थ्य प्राण-मानसिक एवं आत्मिक पवित्रता, प्रजा–सुयोग्य कुल का नाम रोशनकरने वाली सन्तान पशु –गौ, घोड़ा हस्ति, अश्वादि पशु कीर्ति–यश, मान, पद, प्रतिष्ठा, द्रविण–धनधान्य, हीरे, जवाहिरात आदि, ब्रह्मवर्चस– वेदानुकूल आचरण से प्राप्त तेज ओज आदि सात प्रकार के सांसारिक वैभवों को देने वाली है परन्तु ध्यान रखना ये सब वैभव उद्देश्य नहीं साधनमात्र हैं इन सब का त्याग

पूर्वक भोग करके सब सांसारिक कामनाओं का – पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा का त्याग करदो। इन सब को देने वाला मैं हू इन सब को मेरे अर्पण कर दो। तब हल्के होकर तुम ब्रह्म-लोक अर्थात् "आनन्द" की स्थिति को प्राप्त कर सकोगे ।

इसी वेद के आशय को भगवान् कृष्ण ने गीता में निम्न प्रकार कहा है :—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

गीता ९।२७

परम पिता परमात्मा अकाम हैं किन्तु उनकी यह कामना सदैव बनी रहती है कि मेरे प्यारे पुत्र माया में ही फसे न रहकर मायापति का भी ध्यान करें। माया – प्रकृति के संसर्ग से मिलने वाले सुख दुःख के द्वन्द्व से ऊपर उठकर "आनन्द" को प्राप्त कर सकें जो केवल उनके सान्निध्य से प्राप्त हो सकता है। यह कब होगा जब प्रभु स्वयं किसी जीवात्मा को वरण करें। उपा-सना के अभ्यास के समय मानव प्रभु को स्मरण करता है परन्तु समर्पण के अभ्यास के समय मानव यत्न करता है कि प्रभु उसे वरण करलें। वह प्रभु की प्रसन्नता को प्राप्त कर सके। प्रभु प्रसन्न होते हैं पूर्ण आत्म समर्पण से। इसी बात को उपनिषत्कार ने निम्न प्रकार कहा है कि—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन
यमेवैष वृणुते तेनलभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

अर्थ स्पष्ट है कि जिसका वरण प्रभु स्वयं करते हैं उसी के हृदय में वे अपने स्वरूप (आनन्द) का प्रकाश करते हैं। प्रभु को प्रसन्न करना ही संन्यासी का कर्त्तव्य है यही मोक्ष का मार्ग है।

यह कहकर मौनी बाबा चुप हो गये, तब निम्न प्रश्नोत्तर हुए :—

वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक कैसे हैं?

एक भक्त—भगवन् आपने कहा कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। परन्तु वेदों के भाष्यकर्ता कई विद्वान् यह मानते हैं कि यजुर्वेद ही नहीं अपितु सभी वेद यज्ञों के विधिविधान तथा विनियोग के लिये ही हैं। इनमें ज्ञान विज्ञान या अध्यात्म की कोई बात नहीं है। इन्होंने महाभारत में महर्षि नारद के नाम से एक कथा भी जोड़दी है। उसमें लिखा है कि महाराज युधिष्ठिर ने महर्षि नारद से पूछा कि "कथं वै सफला वेदा:" महर्षि नारद ने उत्तर दिया कि "अग्निहोत्र फला वेदा:" अर्थात् वेदों का प्रयोजन केवल अग्निहोत्र है।

उत्तर—यह ठीक है मध्यकाल में कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा रही है परन्तु इस युग के आचार्य महर्षि दयानन्द की घोषणा है कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उन्होंने पृथिव्यादि लोक भ्रमण, आकर्षणानुकर्षण प्रकाश्यप्रकाशक और गणित

आदि कई विषयों के लिये वेदमन्त्रों के उद्धरण दिये हैं। इतना ही नहीं नौ विमानादि विद्या, तार विद्या इत्यादि का भी मूल वेद को ही प्रमाणित किया है। उन्होंने यजुर्वेद के सब मन्त्रों का भाष्य भी आध्यात्मिक पक्ष में किया है कर्मकाण्ड में नहीं।

प्रश्न—भगवन्! माण्डूक्योपनिषद् में लिखा है कि "ओइमित्येद-क्षरं इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्"॥

अर्थात् वेदों में, उपनिषदों में तथा अन्य सत् शास्त्रों में ब्रह्म की ही व्याख्या है। फिर वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक कैसे?

उत्तर—यह ठीक है कि वेदों का मुख्य विषय ब्रह्म विद्या ही है परन्तु उनमें अन्य लौकिक या व्यावहारिक विद्याएं नहीं हैं ऐसी बात नहीं है। मैं कह चुका हूं कि सृष्टि बनाने में परमेश्वर का प्रयोजन जीवात्मा के लिये भोग एवं अपवर्ग के साधन उपस्थित करना है। अतः यह आवश्यक है कि वह दोनों प्रकार के साधनों का पूर्ण ज्ञान भी प्रदान करे। परमेश्वर ने वेदों द्वारा अभ्युदय अर्थात् सांसारिक सुख समृद्धि के साधनों का तथा निःश्रेयस अर्थात् पार-मार्थिक विभूतियों की प्राप्ति के साधनों का पूर्णज्ञान मानवमात्र केलिये प्रदान किया। अभ्युदय भी उतना ही आवश्यक है जितना मोक्ष। सत्य तो यह है कि जीवात्मा को लम्बी यात्रा में जिस प्रकार नर तन का मिलना एक

सीढ़ी है, सांसारिक अभ्युदय भी उसी प्रकार एक सीढ़ी है मोक्ष प्राप्ति के लिये। बिना नर तन मिले अभ्युदय नहीं हो सकता और बिना अभ्युदय मिले निःश्रेयस या मोक्ष भी नहीं मिल सकता। ये दोनों विरोधी तत्त्व नहीं अपितु एक दूसरे के पूरक हैं करतल और करपृष्ठ के समान।

जब यह कहा जाता है कि वेदों एवं शास्त्रों का मुख्य विषय ब्रह्म है तब हम अन्तिम लक्ष्य की ओर संकेत कर रहे होते हैं इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वेदों में या शास्त्रों में उससे पहिली सीढ़ियों का वर्णन हो नहीं।

क्या वेद में क्षात्र धर्म भी है ?

एक भक्त—भगवन्वर्ण व्यवस्था की उपादेयता बतलाते हुए आपने कहा कि जब तक किसी देश में वर्ण-व्यवस्था प्रचलित न हो तब तक वह देश उन्नति नहीं कर सकता। परन्तु वेदों में तो सर्वत्र अहिंसा सत्य विश्वबन्धुत्व विश्व-शान्ति और वसुधैव कुटुम्बकम् की सत्त्वगुणी भावनाओं को ही बढ़ावा दिया गया है। इसी विचारधारा के प्रभाव से भारतवासी नपुंसक बन गये और आत्मरक्षा के लिये संघर्ष से दूर रहे। असभ्य विदेशी आक्रमणकारियों के आगे इन्होंने घुटने टेक दिये और सदियों गुलाम रहे। क्या यही वेदों की विचारधारा है।

उत्तर—आपके प्रश्न को सुनकर मुझे एक कथा याद आगई।

एक आंखों वाले नेता के साथ छः अन्धे चले जा रहे थे। मार्ग में एक हाथी दिखाई दिया तो नेता ने अपने साथियों से पूछा कि तुम्हें पता है हाथी कैसा होता है वे बोले "हमें पता नहीं" तब नेता ने कहा कि आओ मैं तुम्हें हाथी दिखाऊं, तुम स्वयं जान लो कि हाथी कैसा होता है ? वह उन छः व्यक्तियों को हाथी के समीप ले गया और कहा कि हाथी खड़ा है तुम हाथ लगाकर जानलो कि हाथी कैसा होता है। सबने हाथी को हाथ लगाया। जिसने टांगों के हाथ लगाया वह बोला कि हाथी मोटे-मोटे खम्बों जैसा होता है, जिसने सूंड पर हाथ लगाया वह बोला कि हाथी ऊपर से मोटा नीचे से पतला होता जाता है, जिसने कानों पर हाथ लगाया वह बोला कि हाथी छाज जैसा होता है जिसने माथे पर हाथ लगाया वह बोला कि हाथी एक चौड़ी परात की तरह होता है, जिसने पूंछ पर हाथ लगाया वह बोला कि हाथी एक पतली छोटी रस्सी की तरह होता है, जिसने पेट पर हाथ लगाया वह बोला कि हाथी एक बहुत बड़ी अनाज से भरी बोरी की तरह होता है। उनका नेता यह सब सुनकर मुस्करा दिया और अपने मन में कहा कि आखिर अन्धे ही तो हैं।

सत्य यह है कि वेदों के आशय को समझने के लिये साधारण माननीय बुद्धि काम नहीं देती समाधिसिद्धि से उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञा की आवश्यकता पड़ती है। संस्कृत साहित्य के दो चार ग्रन्थ पढ़कर जो विद्वान् वेदों का भाष्य करने बैठ जाते हैं वे

कुछ मन्त्रों या मन्त्रांशों को देखकर सारे वेद के विषय में अंधों की तरह अपनी धारणा बना लेते हैं।

वेद समन्वयात्मक दृष्टिकोण उपस्थित करता है। शान्ति और युद्ध दो भिन्न २ वस्तुएं नहीं हैं। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एतरेय ब्राह्मण में (८।२) लिखा है कि :--

"ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम् क्षत्रे ब्रह्म"

अर्थात ब्राह्मण से क्षत्रिय की स्थिति होती है और क्षत्रिय से ब्राह्मण की। ये दोनों एक दूसहे के पूरक हैं परस्पर विरोधी नहीं।

प्रकृति के सत्त्व रजस् एवं तमस् गुणों के कारण किसी मनुष्य में सत्त्वगुण की प्रधानता किसी व्यक्ति में रजोगुण की प्रधानता और किसी में तमोगुण की प्रधानता होती है। सत्त्वगुणी ब्राह्मण, रजोगुणी क्षत्रिय और तमोगुणी वैश्य होता है। यह विभाजन प्राकृतिक है अर्थात् प्रकृति (स्वभाव) के आधार पर है देश की रक्षा एवं उन्नति के लिये तीनों प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। किसी एक की प्रधानता हो जाने से देश में निर्बलता और अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है और देश की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है।

ईश्वर स्वयं अग्नि स्वरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप है और इन्द्र अर्थात् सकल ऐश्वर्यों का स्वामी है वह सोम अर्थात् सज्जनों को शान्ति देता है और रुद्र अर्थात् दुष्टों का संहार करने वाला है प्रातःकाल उठते ही जोमन्त्र पढ़ा जाता है उसमें

ईश्वर के इन दोनों स्वरूपों का हम स्मरण करते हैं :--

ओं प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे,

प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना

प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं

प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम् ।। यजुर्वेद ३४।३४ ।

यजुर्वेद के निम्न दो मन्त्रों में मानव के लिये भी भगवान् का आदेश है कि ब्रह्म और क्षत्र दोनों को साथ साथ चलना चाहिये। एक के बगैर दूसरा लंगड़ा है :--

ओं यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्रादेवा सहाग्निना ।। यजु. २०।२५ ।

ओं इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयिदेवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्मै ते स्वाहा । यजु. ३२।१६

महाभारत के संहारकारी युद्ध तक आर्यों का भूमण्डल पर चक्रवर्ती राज्य रहा। उस समय वेद की सही शिक्षा प्रचलित थी जो जनता को नपुंसक न बना कर वीर बनाती थी। महाभारत के समय गुरु द्रोणाचार्य जैसे महापुरुष थे जो दावे से कह सकते थे कि :--

अग्रतश्चतुरो वेदा पृष्ठतः सशरं धनुः ।
उभाभ्यां हि समर्थोऽस्मि शापादपि शरादपि ।।

तदनन्तर मध्यकाल में वेदों की शिक्षा लुप्त हो गई। तत्कालीन ब्राह्मणों ने स्वार्थवश वेदों के उल्टे सीधे अर्थ प्रचलित

कर दिये। भारत की गुलामी का कारण वेद या वेद की शिक्षा नहीं है अपितु वेदों की शिक्षा का अभाव ब्राह्मणों में स्वार्थ की भावना तथा क्षत्रियों में परस्पर ईर्ष्या द्वेष आदि हैं।

तदनन्तर शांतिपाठ के साथ सत्संग समाप्त हुआ। भक्तजन मौनी बाबा को धन्यवाद देते हुए अपनी सामर्थ्य के अनुसार भेंट देकर अपने २ घर गये।
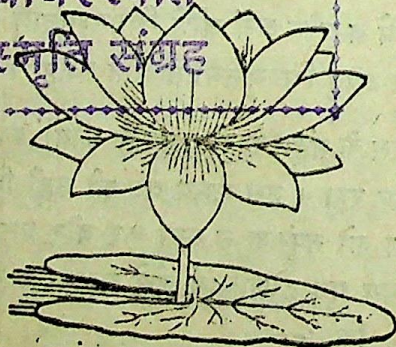
ग्रह काल ख नेत्रेऽब्दे
ज्येष्ठ मासे सिते दले ।
एकादश्यां बुधेवारे
पुस्तिकेयं प्रकाश्यते ॥

अर्थ—सम्वत् २०३९ की ज्येष्ठ सुदी एकादशी बुधवार के दिन यह पुस्तिका प्रकाशित की गई ।
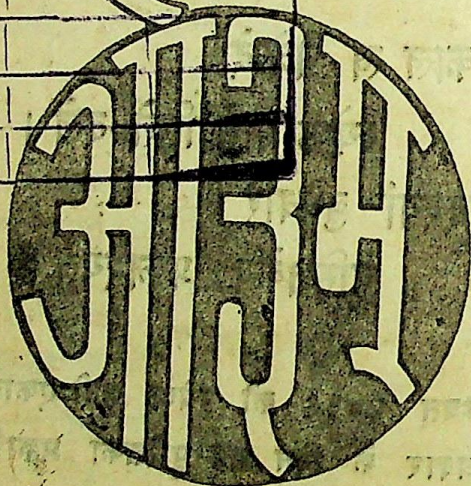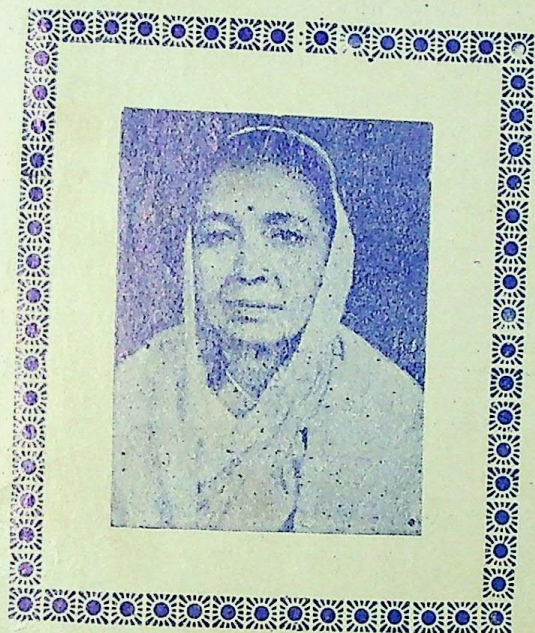
शान्तिदेवी जी

हिन्दी-भूषण, सत्यार्थ-भूषण, सिद्धान्त-भूषण

जिनकी शिक्षा-दीक्षा विशेष नहीं थी, तथापि उन्होंने विगत ५४ वर्षों तक निरन्तर गृहस्थ एवं वानप्रस्थ जीवन में पति-परायण देवी की तरह प्रत्येक कार्य में सहयोग दिया;

उनकी ही निरन्तर प्रेरणा से यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है।

आर्यसमाज के नियम

१. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जा[illegible] उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्ति[illegible] न्यायकारी, दयालु, अजन्मा अनन्त, निर्विकार, [illegible] अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्यपवित्रऔर सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

[illegible]. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहियें।

६. संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है,अर्थात् शारीरिक आत्मिक, व सामाजिक उन्नति करना

७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये। किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

—o—